जन शिक्षा की भारतीय परम्परा

भवानी शंकर गर्ग

04.02
ND

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
नई दिल्ली

जन शिक्षा की भारतीय परम्परा

जन शिक्षा की भारतीय परम्परा

National Documentation Centre
On Literacy and Population Education
IAEA
Acc. No. .....

भवानी शंकर गर्ग

NATIONAL DOCUMENTATION CENTRE ON LITERACY AND POPULATION EDUCATION
IAEA
NEW DELHI

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
नई दिल्ली

374.012 0954
IND

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
१७ बी, इन्द्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-११०००२
फोनः ३३१९२८२, ३७२१३३६

National Documentation Centre
On Literacy and Population Education
IAEA
Acc. No. GR187

मूल्यः ६० रूपये
१९९९

NATIONAL DOCUMENTATION CENTRE ON LITERACY AND POPULATION EDUCATION
IAEA
NEW DELHI

मुद्रकः
प्रभात पब्लिसिटी, दिल्ली-११०००२.

अनुसूची

		पृष्ठ संख्या
	प्रस्तावना	५
१.	प्राचीन काल मे राजस्थान	९
२.	राजस्थान में वैदिक कालीन प्रौढ़ शिक्षा	११
३.	उत्तर वैदिक युग का राजस्थान	१५
४.	समुद्री तूफान	१८
५.	महाकाव्यों के काल में राजस्थान की प्रौढ़ शिक्षा	२१
६.	महाकाव्य काल में प्रौढ़ शिक्षा का विकास	२३
७.	बौद्ध काल में प्रौढ़ शिक्षा का विस्तार	२४
८.	जैन धर्म के अनुरूप प्रौढ़ शिक्षा का विकास	२६
९.	स्मृतिकाल की प्रौढ़ शिक्षा	२७
	राजस्थान में मध्यकालीन प्रौढ़ शिक्षा	
१०.	राजपूत काल	३०
११.	ब्रिटिश शासनकाल का आरम्भ	४५
१२.	नव जागरण काल	५२
१३.	स्वातंत्र्योत्तर काल	५९

प्रस्तावना

भारतवर्ष में शिक्षा, विशेषकर समाज-शिक्षा, सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग रही है। प्राचीन काल में समाज शिक्षा आज के संदर्भ में परिभाषा में चाहे नहीं रही हो परन्तु वह वास्तविक रूप में जन साधारण के लिये समाज के अभिन्न अंग के रूप में सामाजिक जीवन जीने का माध्यम थी। उसका आधार अध्यात्म और संस्कृति रही है। भारतवर्ष में अनेक शास्त्रों ने विभिन्नता में एकता के दर्शन को प्रतिपादित करते हुए राष्ट्र में भावात्मक एकता बनाये रखने में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

समाज के प्रत्येक स्तर पर नागरिकों के लिए अनौपचारिक माध्यम से उनकी जीवन चर्या के साथ साथ समाज शिक्षा का कार्य किया जाता रहा है। इनमें सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं अन्य आधारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ग्रामीण एवं सामाजिक संगठन इसके सशक्त माध्यम रहे हैं।

समाज में शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की परिकल्पना को मूर्तरूप देने की साधना की जाती थी। सम्पूर्ण समाज में सुख-समृद्धि का विस्तार हो; ऐश्वर्य व वैभव की वृद्धि हो; लोक-मंगल की चेतना व्याप्त हो, कोई दु:खी न रहे, किसी को अभाव न सताये। यही समाज शिक्षा का उद्देश्य था—जो समाज में प्रचलित अनेक परंपराओं, त्यौहारों, पर्वों, उत्सवों आदि के माध्यम से, व्यक्ति, परिवार, समुदाय और समाज के विभिन्न स्तरों पर अनौपचारिक रूप से व्यक्त किया जाता रहा है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु नरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
या कश्चित दु:ख भाग भवेत॥

समस्त धार्मिक ग्रन्थों, कथाओं, यज्ञ, तपस्या आदि के माध्यम से ऋषियों, मुनियों व मनीषियों और समाज के अग्रण बुजुर्गों द्वारा यह कार्य सामाजिक कर्तव्य की भांति किया जाता रहा है। यह कार्य समस्त राष्ट्र में बिना जाति वर्ण लिंग या धर्म के भेदभाव के सहज रूप से होता रहा है। यही कारण है कि भारत में भावनात्मक एकता बनी रही और राष्ट्र कभी भी खंडित नहीं हुआ।

वर्तमान पुस्तक में जन शिक्षा की भारतीय परम्परा के रूप में राजस्थान को संदर्भित कर अनेक ग्रन्थों एवं कार्यकलापों को उल्लेखित कर लिखा गया है। परन्तु यह कार्य समस्त राष्ट्र में विभिन्न प्रांतों में अपनी अपनी स्थिति के अनुकूल सामाजिक स्तर पर होते रहे हैं। अत: समस्त राष्ट्र के संदर्भ में ही इसे पढ़ा और समझा जाना चाहिये।

आशा करता हूँ कि यह पुस्तक राष्ट्र की भावात्मक एकता को बनाये रखने और समाज-शिक्षा को सही संदर्भ में समझकर पुन: जीवित कर कार्य करने की प्रेरणा हमें दे सकेगी।

मैं श्री प्रहलाद नारायण बाजपेयी का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने के लिये आवश्यक सामग्री उपलब्ध करायी और यथोचित सहयोग दिया।

भवानी शंकर गर्ग
चांसलर, राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर एवं
अध्यक्ष, भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
नई दिल्ली

प्राचीन काल में राजस्थान

प्राचीन काल में राजस्थान का अपना एक विशेष महत्व था। उस समय शिवालिक पहाड़ियों से निकलकर सरस्वती नदी राजस्थान के विशाल भू-भाग को जल प्लावित करती हुई द्वारिका के पास समुद्र में जाकर गिरती थी। सरस्वती नदी के तट पर दोनों ओर बसा यह क्षेत्र सारस्वत क्षेत्र के नाम से विख्यात था। इसके पूर्व व उत्तर में मत्स्य क्षेत्र था और दक्षिण में शिवि प्रदेश था। राजस्थान के अधिकतर भू-भाग में उस समय वन ही वन थे।

वैदिक युग में आर्यों की सभ्यता का प्रमुख केन्द्र सारस्वत क्षेत्र था।[१] 'सरस्वती नदी के दोनों किनारों पर घनी बस्तियाँ थीं। उन बस्तियों में खेती करने वाले लोग तो रहते ही थे; अन्य धंधों में लगे लोग भी निवास करते थे। कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों में लगे हुए लोग भी थे। पाँच जातियों के बसे होने का उल्लेख तो मिलता ही है।[२]

सरस्वती नदी के किनारे कृषि कार्य करने वाले लोग धन-धान्य से पूर्ण थे। कृषि के सहयोगी व्यवसाय पशु पालन में भी लगे लोग थे। पशुओं से इस व्यवसाय में रचे-पबे लोगों की समृद्धि का अनुमान लगाया जाता था। उस युग में अन्नोत्पादन की दृष्टि से यह अत्यन्त समृद्ध क्षेत्र था। इसका श्रेय सरस्वती नदी को ही दिया जा सकता है।[३]

अरण्य संस्कृति का विकसित स्वरूप इस काल का अपना वैशिष्ट्य है। अरण्य संस्कति में हर कबीले की अपनी पंचायती शासन व्यवस्था थी किन्तु ऋग्वेद में राजाओं का उल्लेख है अतः राजतन्त्र भी विद्यमान था। सरस्वती नदी के उस वैभव काल में अनेक राजाओं के राज्य थे।[४]

सरस्वती नदी वैदिक भारत की समृद्ध नदी होने के साथ-साथ एक पवित्र नदी भी थी। इसके तट पर अनेक तीर्थ थे जहाँ आर्य सभ्यता और संस्कृति का चरम विकास हुआ। यहाँ यज्ञ किये गए। सरस्वती नदी के तट पर किये गए यज्ञों को कात्यायन, लाट्यायन एवं आश्वलायन आदि श्रौत सूत्रों में महत्वपूर्ण माना गया है।[५]

आश्रमों में गुरुकुल चलते थे। इन गुरुकुलों में राजा से रंक तक के बालक शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरुकुल में पढ़ते समय सभी विद्यार्थियों में समानता का भाव था। न तो कोई उच्च वर्ग का होता था, न रंक का। गुरुकुल में विद्यार्थियों को केवल शिष्य माना जाता था। सभी विद्यार्थियों को गुरु का अनुशासन मानना होता था।

शिक्षा का समाज के साथ सामंजस्य ही उस युग की अपनी विशेषता थी। उस युग की धारणा में मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मानी जाती थी। बाल-विवाह की प्रथा उस समय बिल्कुल न थी। २५ वर्ष तक गुरुकुल में विद्यार्थी के रूप में विद्याध्ययन किया जाता था। विद्यार्थी जीवन में भिक्षा माँगकर लाना आवश्यक था। भिक्षा माँगने से विद्यार्थी समाज की स्थिति से परिचित होता था। प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति से उसका सम्पर्क होता

था। हर प्रकार के परिवार का अवलोकन करने का अवसर मिलता था। भिक्षा का अन्न ग्रहण कर विद्यार्थी समाज के ऋण का अनुभव करता था।

२६ वर्ष से ५० वर्ष तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने का प्रावधान था। इस काल में व्यक्ति को धन-धान्य, समृद्धि एवं सन्तान आदि से सम्पन्न होने का अवसर सुलभ होता था। पारिवारिक सुख भोगने का इस समय स्वातन्त्र्य सुलभ होता था। गृहस्थ जीवन में सम्पत्ति का अर्जन करने के लिए साथ-साथ दान आदि के द्वारा समाजोपयोगी कार्य किये जाते थे।

५१ वर्ष से ७५ वर्ष वानप्रस्थ आश्रम कहा जाता था। इस अवधि में पति व पत्नी गृह त्याग कर समाज के साथ साक्षात्कार करने में जीवन व्यतीत करते थे। इस समय समाज सेवा करना ही जीवन का मुख्य ध्येय रहता था। समाज का हित चिन्तन करना आवश्यक माना जाता था। समाज में शान्ति और सुव्यवस्था के लिए अपने अनुभवों के आधार पर शिक्षा देने का कार्य भी किया जाता था।

७६ से १०० वर्ष तक संन्यास आश्रम कहा जाता था। इस अवधि में पति व पत्नी अलग-अलग रहकर तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। परलोक के चिन्तन में लोक मंगल के कार्यों में लीन रहते थे। जीवन के अनुभवों से समाज को लाभान्वित करना आवश्यक माना जाता था। इस समय आध्यात्मिक जीवन बिताने का विधान था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल समाज के लिए व्यक्ति के समर्पण का काल था।

वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था थी किन्तु जाति-भेद अथवा श्रेणी-भेद का अभाव था। जो लोग यज्ञ करते-कराते थे, पढ़ते पढ़ाते थे। दान देते व लेते थे, उन्हें ब्राह्मण माना जाता था। जो युद्ध कला में निपुण थे, शत्रुओं से जनता की रक्षा करते थे उन्हें क्षत्रिय कहा जाता था। जो व्यापार तथा वाणिज्य द्वारा धन अर्जित करते थे तथा समाज की आर्थिक उन्नति के लिए सहायक सिद्ध होते थे उन्हें वैश्य कहा जाता था। जो समाज में सेवा का कार्य करते थे उन्हें शुद्ध वर्ण के अन्तर्गत माना जाता था।

वर्ण का आधार व्यक्ति की योग्यता अथवा अपने कार्य में निपुणता ही थी। कोई भी व्यक्ति तपस्या एवं विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार कोई भी मनुष्य अपनी वीरता के कारण क्षत्रिय व राजन्य बन सकता था। वैदिक ऋषियों ने समाज की कल्पना एक मानव शरीर के समान की थी जिसके शीर्ष स्थानीय ब्राह्मण थे, बाहुरूप क्षत्रिय थे, पेट व जंघाओं के समान वैश्यों की स्थिति थी और पैरों के समान शूद्र थे।

---

१. होल्डिज टी.एच. फिजिकल एस्पेक्ट्स, इम्पीरयल गजेटियर्स ब्रिटिश इण्डिया, १,३०

२. ऋग्वेद ६.६१.१२

३.वही ६.६१.१६

४.वही ८.२१.१८

५. कात्यायन श्रौत सूत्र १२, ३, २०, २४, ६, २२
लाट्यायन श्रौत सूत्र १०,१५,१८,१९
आश्वलायन श्रौत सूत्र १३, २९

राजस्थान में वैदिक कालीन प्रौढ़ शिक्षा

प्राचीन भारतीय समाज में चरित्र निर्माण, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए शिक्षा को समाज का अनिवार्य अंग माना जाता था।[१] ऋग्देव में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार माना जाता था।[२]

समाज में शिक्षा के द्वारा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की परिकल्पना को मूर्ति रूप देने की साधना की जाती थी। सम्पूर्ण समाज में सुख-समृद्धि का विस्तार हो, ऐश्वर्य व वैभव की वृद्धि हो। लोक-मंगल की चेतना व्याप्त हो। कोई दुखी न रहे, किसी को अभाव न सताये।

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दुखभाग भवेत॥

समाज के समग्र विकास का लक्ष्य ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों एवं मनीषियों के सामने था। ये स्वयं तो समाज के कल्याण की साधना किया ही करते थे। सम्पूर्ण समाज को भी इस प्रक्रिया में संलग्न करने की ओर प्रवृत्त रहते थे। वैदिक युग के आर्य लोग प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मानकर उन्हीं की उपासना किया करते थे। प्राचीन आर्यों का विचार था—वर्षा, धूप, सरदी, गरमी सब एक नियम से होती है। इन प्राकृतिक शाक्तियों के अधिष्ठाता देवता होनें चाहिएं और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकता है।[३]

आर्य इस यथार्थ से परिचित थे कि संसार का स्रष्टा, पालक व संहर्ता एक ईश्वर है। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गुरुत्मान, मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम हैं। उस एक सत्ता को ही विद्वान लोग इन्द्र, मित्र आदि विविध नामों से पुकारते हैं।

प्रौढ़ शिक्षा में उसी परम सत्ता को जानने की प्रेरण दी जाती थी। यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, जो इसको धारण करता है, जो इसका अन्त कर प्रलय करता है, जो इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी व पालनकर्त्ता है, हे प्रिय मनुष्य। तू उसको जान, अन्य किसी को जानने का प्रयत्न न कर।

प्रौढ़ शिक्षा में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था : पृथ्वी हमारी माता है और हम सब पथ्वी के पुत्र हैं। इस प्रकार राष्ट्र को माता मानने की प्रेरणा दी गई और राष्ट्र-प्रेम के बीज बोये गए। सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में पिरोने के लिए सामाजिक एकता का भाव प्रतिष्ठित किया गया।

राजस्थान के विशाल भू-खण्ड में उस समय सरस्वती नदी का प्रवाह था, उस काल को वेद-मन्त्रों से गुंजित कर ऋषियों ने वातावरण पवित्र बनाने का प्रयास किया था। विद्याध्ययन समाप्त करने पर विद्यार्थियों को ऋषि-ऋण चुकाने के लिए प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। ऋषि ऋण चुकाने के लिए उन्हें एकोऽहं बहु स्याम् के मन्त्र की दीक्षा दी जाती थी।

एकोऽहं बहु स्याम्

इस मन्त्र का अर्थ है—एक मैं हूँ बहुत हो जाऊँ। इसका तात्पर्य है जिस प्रकार शिक्षा से ओत-प्रोत मैं हूँ। समाज में वैसे ही बहुत से व्यक्तियों का निर्माण मैं करूँ। मेरा ज्ञान समाज के अनेक व्यक्तियों में समा जाए। वास्तव में इस प्रकार ज्ञान के प्रकाश से सम्पूर्ण समाज को आलोकित करने का लक्ष्य था।

विद्यार्थी को बोध कराया जाता था। विद्यार्थी जीवन में समाज के अन्न से तुम्हारा पोषण हुआ है। उस समाज के अन्न का मोल चुकाने का समय आया है। गुरु के द्वारा प्राप्त शिक्षा का प्रचार-प्रसार कर गुरु के ऋण को चुकाओ। ऋषि ऋण से मुक्त हो जाओ।

विद्यार्थियों के सामने लक्ष्य था :-

पश्येन शरदः शतम्
शृणुयाम शरदः शतम्
जीवेम शरदः शतम्
अदीनाःस्याम शरदः शतम्॥

सौ वर्ष तक जीवित रहने का लक्ष्य संयम के साथ जीवन बिताने की प्रेरणा देता था। समाज में शिक्षा की ज्योति जागृत करने के लिए भी विद्यार्थी को उच्चादर्श स्थापित करने का चैतन्य अपनाना होता था। समाज में अपने ज्ञान का उपयोग कर विद्यार्थी समाज के व्यक्तियों से सम्पर्क साधता था। व्यक्तिशः सम्पर्क कर उन्हें सायंकाल के समय किसी एक सार्वजनिक स्थल पर एकत्रित होने की प्रेरणा देता था।

उस समय प्रौढ़ शिक्षा का कार्य एक सामाजिक कार्य था, जिसमें समाज के सभी लोग सम्मिलित होते थे। विद्यार्थियों की सक्रियता का अपना विशेष महत्व था। गृहस्थ भी यथा संभव सहयोग करते थे। जहाँ तक वानप्रस्थ आश्रम का प्रश्न है, इस आश्रम के स्त्री-पुरुष तो समाज-सेवा में ही जीवन व्यतीत करते थे। इसलिए वे अपने जीवन के अनुभवों से समाज को लाभान्वित करते थे। संन्यास आश्रम के लोग आध्यात्मिक प्रवचन देकर लोक

परलोक सुधारने के लिए समाज को प्रवृत्त करते थे। सम्पूर्ण समाज का सहयोग होने के कारण यह कार्य अत्यन्त सुचारु रूप से चलता था।

प्रौढ़ शिक्षा के विस्तृत और व्यापक कार्यक्रम के आलोक में वैदिक काल में शिक्षा को प्रकाश का स्रोत माना जाता था, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चा मार्ग प्रदर्शन करती है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है और उसे सही कार्य में प्रवृत्त करता है।[४]

विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार माना जाता था। इसके द्वारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता था। चारों आश्रमों के लोग प्रौढ़ शिक्षा के कार्य में सम्मिलित होते थे किन्तु जो मनोयोग पूर्वक शास्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्त होता था, उसके लिए मोक्ष का द्वार सुलभ होता था। यह धारणा उस काल में सर्वमान्य थी कि वेदशास्त्र आदि के तत्वों का ज्ञाता किसी भी आश्रम में क्यों न हो, वह इस लोक में रहते हुए ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[५] जनता में यह दृढ़ विश्वास था कि वेदाध्यन से सभी पापों से छुटकारा मिलता है, यह वातावरण प्रौढ़ शिक्षा से ही बना था।

प्रौढ़ शिक्षा के कार्य में प्रवृत्त लोगों के प्रयासों से जो किसी समाज, किसी सार्वजनिक स्थल पर व्यक्ति एकत्रित होते थे, उनमें ज्ञान की चर्चा होती थी। वेदों के मन्त्रों की व्याख्या की जाती थी। गृहस्थजन मनोरंजन सम्बन्धी कार्यक्रमों में रुचि लेते थे, स्वयं भी प्रस्तुत करते थे। वानप्रस्थी अपने अनुभवों से समाज को लाभान्वित करते थे। कथा-कहानियों के माध्यम से शिक्षा के द्वारा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते थे।

समाज में शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने का एकमात्र लक्ष्य था—समाज में सभी लोग सुखी हों, समृद्ध रहें, सम्पन्न हों, स्वस्थ रहें, सब में परस्पर स्नेह रहे। सब का कल्याण हो। न कोई दुखी रहे, न कोई अभावग्रस्त रहे।

समाज के समग्र विकास का लक्ष्य था, शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने वाले लोग स्वयं तो समाज कल्याण के कार्य में साधनारत रहते ही थे, सम्पूर्ण समाज को भी इस प्रक्रिया में संलग्न रहने के लिए प्रेरित करते थे।

वैदिक युग में प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य सम्पूर्ण समाज को सुखी बनाना था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विद्यार्थी, ग्रहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी सभी लोग शिक्षा के प्रचार-प्रसार द्वारा ऋषि-ऋण चुकाने की साधना किया करते थे। एक सामूहिक अभियान चलाया जाता था जिसमें जन-जन का महत्वपूर्ण योगदान होता था। इस अभियान में उत्साह से भाग लेने से जीवन की सार्थकता मानी जाती थी। सारा समाज इसमें रुचि लेता था।

स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। उनका समाज में आदर था, उनकी प्रतिष्ठा थी। अनेक स्त्रियाँ इतनी विदुषी थीं कि उनके बनाये हुए मन्त्रों को वैदिक

संहिताओं में भी संकलित किया गया है। लोपा मुद्रा, अपालोमयी आदि अनेक स्त्रियाँ सूक्तों की ऋणि हैं। गोधा, धोषा, विश्ववारा, आदति, सरमा आदि कितनी ही ब्रह्म वादिनी महिलाओं का उल्लेख प्राचीन साहित्य में आया है। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर जो स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं, उन्हें पारिवारिक जीवन में सहधर्मिणी माना जाता था।

वर्ण-भेद की स्थिति उस समय नहीं थी। वर्ण-भेद का मुख्य आधार जन्म न होकर कर्म था। सारा समाज एक है, यह भावना विद्यमान थी। शिक्षा का महत्व समाज में सभी स्वीकार करते थे।

---

१. अ.स. अल्तेकर : एजूकेशन इन इण्डिया, पृ. ३२६
२. ऋग्देव १०/७१/७
३. सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारत, पृ. ९७
४. सुभाषित रत्न संग्रह, पृ. १९४
५. मनुस्मृति १२/१०२

उत्तर वैदिक युग का राजस्थान

वैदिक युग के आर्य राज्यों का स्वरूप जन राज्य का था क्योंकि उनका आधार जन होता था। एक जन के सब व्यक्ति प्रायः सजात होते थे। कुरु, पांचाल, शिवि, मद्र, केकय, गान्धार आदि जो राज्य वैदिक युग में विद्यमान थे, वे सब जन राज्य थे। जिस स्थान या प्रदेश पर यह जन बसा होता था, उसे जनपद व राष्ट्र कहते थे।

धीरे-धीरे इन जनपदों में अन्य लोभी बसने शुरू हुए और वे सब उसके अंग या प्रजा बन गए। इन जनपदों में किसी कबीले या जन के प्रति भक्ति की अपेक्षा उस प्रदेश के प्रति भक्ति अधिक महत्व की बात हो गई। विविध जनपदों के परस्पर संघर्षों के कारण महाजनपदों का विकास हुआ। काशी, कौशल, मगध, शिवि, मत्स्य, सारस्वत, केकय, पांचाल आदि उस काल के जनपद थे। शिवि, मत्स्य और सारस्वत क्षेत्र उस समय के जनपद राजस्थान में थे। वैदिक युग में आर्य धर्म का जो स्वरूप था उसमें तत्व चिन्तन की लहर ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किया था। वेदों के देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तरूप थे। संसार की मूल शक्ति जिन विविध रूपों में अभिव्यक्त होती है, उनमें वैदिक आर्यों ने अनेक देवताओं की कल्पना की थी। इन देवताओं की पूजा और तृप्ति के लिए वे यज्ञों का अनुष्ठान करते थे।

उत्तर वैदिक काल में आर्यों का ध्यान ब्रह्म विद्या तथा तत्व चिन्तन की ओर भी गया। यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त होता है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन में तत्पर थे कि मनुष्य क्या है ? जिसे हम आत्मा कहते हैं, इसका क्या स्वरूप है ? शरीर और आत्मा भिन्न हैं या एक ही है ? मरने के बाद मनुष्य कहाँ जाता है ? इस सृष्टि का कर्त्ता कौन है ? इसका नियमन किस शक्ति द्वारा होता है ?

इस युग के ग्रामों और नगरों के बाहर जंगल के प्रदेशों में अनेक विचारकों ने अपने आश्रम बनाये थे जहाँ ब्रह्म विद्या या तत्वज्ञान की प्रप्ति के लिये आतुर हुए लोग एकत्र होते थे तथा स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की अपनी प्यास बुझाते थे।

आरण्यक आश्रमों में चिन्तन करने वाले ये विद्वान् अनुभव करते थे कि मानव-जीवन की उन्नति और परम पद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में करे, दृढ़ संकल्प होकर आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करे और ईश्वर में ध्यान लगाए। शरीर से भिन्न जो आत्मा है, उसको जानने और उस पर ध्यान देने से ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थिति में परिवर्तन आया था। याज्ञिक अनुष्ठान व सैनिक वृत्ति आदि की विशिष्टता के कारण ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को अन्य लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था किन्तु धर्माचरण द्वारा निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से उत्तम वर्ण प्राप्त कर सकता

था और अधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से निचले वर्ण में चला जाता था।

यदि कोई शूद्र विशिष्ट रूप से धार्मिक, विद्वान् व दक्ष हो तो समाज में उसका आदर होता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार एक बार ऋषि लोग सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे, उस समय ऐलूष कवष नाम का व्यक्ति उनके बीच में आ बैठा। तब ऋषियों ने कहा, यह दासी का पुत्र अब्राह्मण है। हमारे बीच में कैसे बैठ सकता है किन्तु उसकी विद्वता ने ऋषियों की आँखें खोल दीं। उन्हें ज्ञात हुआ कि यह तो परम विद्वान् है, देवता लोग भी इसका आदर करें, इस योग्य यह व्यक्ति है। उसे उपयुक्त सम्मान दिया गया।

राजस्थान में उत्तर वैदिक कालीन प्रौढ़ शिक्षा

वैदिक युग में समाज शिक्षा की चेतना का लक्ष्य इस यथार्य में अन्तर्निहित था कि सम्पूर्ण समाज किस प्रकार सुखी हो, समृद्ध हो ? किस प्रकार सम्पूर्ण समाज के धन, ऐश्वर्य और वैभव में वृद्धि हो, विकास हो ? किस प्रकार समाज में ऐसे वातावरण का निर्माण हो कि न तो कोई व्यक्ति दुखी हो, न अभावों से पीड़ित हो। इन प्रश्नों के हल करने की साधना में रत समाज-सेवी अपनी तपस्या के अनवरत क्रम में लीन थे।

उत्तर वैदिक काल में प्रौढ शिक्षा की यह धारा बदली। अब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चार पुरुषार्थ निर्धारित किये गए। समाज शिक्षा में धर्म का महत्व इसलिए प्रतिष्ठित किया गया कि मानव-जीवन आचरण में पवित्रता को अपनाने तथा चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया में लगे। समाज शिक्षा में अर्थ को महत्वपूर्ण इसलिए माना गया ताकि जन सामान्य समृद्धि की ओर बँटे, सुख की ओर बढे और प्रगति करे। करता जाए। काम के पुरुषार्थ को महत्व देकर सांसारिक सुख, सम्पदा और विभूति को अर्जित करने की प्रेरणा दी गई। मोक्ष का तात्पर्य था सांसारिक सुखों से विरक्ति। इसमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी सभी लगते थे ताकि ज्ञान का आलोक समाज में व्याप्त अज्ञान को पूर्ण रूपेण समाप्त करे।

उस समय की प्रौढ़ शिक्षा का मन्तव्य लोक मंगल के चैतन्य से ओत-प्रोत था। इस कार्य को ईश्वरीय कार्य माना जाता था। अतः इसके पूर्ण होने में सन्देह नहीं किया जाता था। ईश्वरीय कार्य है तो पूर्ण होगा ही, अतः इसके करने का अभिमान नहीं होना चाहिए। प्रेरणा यह दी जाती थी कि इस कार्य में स्वयं को निमित्त मात्र माना जाय।

वैदिक युग से उत्तर वैदिक काल में आते-आते जनसंख्या का विस्तार हुआ था और इसके साथ ही समाज में विकार भी बढ़े थे। इसिलए असद् से सद् की ओर चलने की प्रेरणा दी गई। बुराइयाँ त्याग कर अच्छाइयाँ ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया गया। समाज में व्याप्त अज्ञान के अन्धकार को समाप्त कर ज्ञान के आलोक में विचरण करने की ओर प्रवृत्त करने के लिए कहा गया। अन्धकार से प्रकाश की ओर चलो। दूसरों की भलाई के लिये स्वयं को समर्पित करने की प्रेरणा इसलिए दी गई ताकि मरणशील मानव अमरत्व की साधना में लीन हो सके।

उत्तर वैदिक काल अर्थात् उपनिषद् काल के तत्व चिन्तन ने बहुदेववाद की धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया। समाज को यह बताया गया संसार की उत्पत्ति एक सत्ता द्वारा की गई, उसका पालन भी वही सत्ता करती है, संहार में भी कारण वहीं सत्ता है। सम्पूर्ण सृष्टि का नियन्ता और नियामक वही सत्ता अर्थात् ब्रह्म है। इस प्रकार समाज की एकता का शाश्वत पाठ पढ़ाया गया।

राजस्थान में आज से लगभग सात हजार वर्ष पूर्व जल प्लावन के कारण प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हो गया। जब समय-समय पर कूल कगारों को तोड़ती हुई दूर-दूर तक भयंकर दृश्य उपस्थित करने वाली सरस्वती नदी में शामिल होकर समुद्र उमड़ आया। अब तक नदी समुद्र में गिरती थी, इस बार समुद्र नदी के साथ राजस्थान के विशाल भू-भाग पर छा गया। राजस्थान के अधिकांश भू-भाग में विशेषतः जहाँ-जहाँ सरस्वती नदी बहती थी उसके आस-पास चारों ओर पानी-ही-पानी दिखाई देने लगा। गाँव के गाँव डूब गए। शहरों का अस्तित्व समाप्त हो गया।

समुद्री तूफान को संस्कृत में वृत्र कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इसका वर्णन मिलता है: वृत्र ने पृथ्वी और आकाश के बीच सारे अवकाश को घेर रखा था।[१]

---

१. शतपथ ब्राह्मण १.१. ४-५

समुद्री तूफान

समुद्री तूफान के काल का निर्धारण कर पाना आसान नहीं है, किन्तु इस काल का अनुमान लगाना आवश्यक इसलिए है क्योंकि इस दुर्घटना ने राजस्थान की तत्कालीन गतिविधियों पर वज्रपात किया था। शिक्षा की किसी गतिविधि का तो प्रश्न ही नहीं उठता। समुद्री तूफान के आने के लिए जो कारण उत्तरदायी माने गये हैं, उनका अध्ययन प्रौढ़ शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

पर्यावरण को शुद्ध बनाये रखने के लिए सजगता आज भी प्रौढ़ शिक्षा की प्राथमिकताओं में से एक है। अरण्य संस्कृति के विकास के क्रम में निरन्तर आगे बढते जाने वाले आर्यों में प्रगति का उन्माद जब अपने चरम शिखर पर जा पहुंचा तो पर्यावरण के सन्तुलन का ध्यान रखा न जा सका। इसकी आवश्यकता अनुभव की गई। वनों की अन्धाधुन्ध कटाई की गई। साथ ही उनके जलाने का क्रम बढ़ता गया। अनियोजित एवं अविचारित भूमि अधिग्रहण अभियान के कारण जलवायु का सन्तुलन बिगड़ गया।

इसका प्रभाव सारस्वत क्षेत्र पर पड़ना स्वाभाविक था। वहाँ अतिवृष्टि और अनावृष्टि के रूप में आर्यों को प्राकृतिक प्रकोप का सामना करना पड़ा। प्राकृतिक प्रकोप बढते ही गए। फलतः सरस्वती और उसकी सहायक नदियों के पर्वतीय जल ग्रहण क्षेत्रों में भू-स्खलन की घटनाएँ बढीं और मैदानी क्षेत्र में भू-क्षरण सर्व-बढ़ता गया। फलतः समुद्री तूफान का संकट राजस्थान के विशाल भू-भाग को झेलना पड़ा।

इस समुद्री तूफान के सम्बन्ध में दकन कॉलेज पूना के संयुक्त निदेशक डॉ. वीरेन्द्र नाथ मिश्र का अनुमान है कि यह तूफान लगभग ३००० वर्ष ईस्वी पूर्व आया होगा।१ श्री मिश्र भारतवर्ष के प्रतिष्ठित पुरातत्व विद एवं सुप्रसिद्ध इतिहासकार हैं।

डा. एच. डी. सांकलिया के अनुसार राजपूताना में कुछ वर्षों तक डेवलपमेंट कमिश्नर के पद पर काम करने वाले डा. गाडवेल ने अपनी शोध यात्रा के दौरान राजपूताना के कुओं की वोरिंग में से कुछ नमूनों के आधार पर यह सिद्ध किया कि जो नमक राजपूताना के कुओं में पाया जाता है वह समुद्री नमक है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'साहित्य सस्थान राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर द्वारा आयोजित ओझा आसन के अन्तर्गत भाषण माला में २३-१०-८९ को दिया गया डॉ. वी.एन. मिश्र का भाषण तथ्य पटक था।

हड़प्पा संस्कृति के उद्भव से पूर्व राजस्थान एक समुद्र था।१

वृत्र का अर्थ समुद्री तूफान ही है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पृथ्वी और

आकाश के बीच समस्त अवकाश को घेरने के कारण इसका नाम वृत्र है। उसमें बताया गया कि इन्द्र ने वृभ का वध किया। वध के बाद दुर्गन्ध देता हुआ वह सभी दिशाओं में प्रवाहित हुआ क्योंकि समुद्र चारों ओर है।[२]

इन्द्र को काँपती हुई धरती को स्थिर करने वाला, क्षुब्ध पर्वतों को शान्त करने वाला, आकाश को स्थिर एवं अन्तरिक्ष का माप करने वाला बताया गया है।[३] वृत्र का वध करके समस्त नदियों के प्रवाह को व्यवस्थित करने का कार्य जब इन्द्र ने सम्पन्न किया तो वृत्र के दुर्गन्ध देकर बहने से तात्पर्य यही निकाला जा सकता है कि पानी इतने समय तक ठहरा रहा कि वह सड़ने लगा था।

समुद्री तूफान के कारण समुद्र कितने समय तक राजस्थान के विशाल भू-भाग पर बहता रहा। इसको ज्ञात करने के साधन सुलभ नहीं हैं किन्तु कालीबंगा हड़प्पा सभ्यता का सर्वोत्तम केन्द्र माना जाता है। वहीं की खुदाई में जो नगर, सड़कें, नालियाँ, मकान, विकास स्थान आदि मिले हैं उनका नियोजन वर्तमान नगरों के नियोजन के अनुकूल एवं बहुत व्यवस्थित है। इसका समय आज से ५००० पूर्व का माना जाता है।

कालीबंगा में ही और अधिक खुदाई करने पर दो टीलों से प्राग् हड़प्पा संस्कृति के अवशेष मिले हैं पाग् हड़प्पा स्तर की दीवारों को सैंधवों ने किलेबन्दी के लिए ऊँचा उठाकर उनमें उत्तर और दक्षिण भाग में बहिर्गत दीवारें, बुर्ज व प्रवेश द्वार बनाये।...प्रत्येक मकान में अग्नि कुण्ड बने हुए थे। विभिन्न स्तरों के मकानों का उल्लेखनीय लक्षण यह है कि उनके अग्नि-कुण्ड अंडाकार हैं अथवा आयताकार हैं।

कालीबंगा उत्खनन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसने सैन्धव लिपि पहचान कराने के प्रयास में एक ठोस दिशा, निर्देश दिया है। यहाँ से प्राप्त एक सैन्धव लिपि युक्त मृद् पात्र पर लिपि की ओवर लैपिंग ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी।[४]

प्राग् हड़प्पा कालीन संस्कृति के अवशेष समुद्री तूफान से पूर्व सरस्वती नदी के तट पर सारस्वत क्षेत्र की विकसित संस्कृति का संकेत देते हैं। कार्बन की वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राग् हड़प्पा संस्कृति के काल को आज से ७००० वर्ष पूर्व निर्धारित किया गया है। जबकि हड़प्पा कालीन संस्कृति के अवशेष समुद्री तूफान के बाद विकसित होने वाली संस्कृति का यथार्थ सिद्ध करते हैं। इस प्रकार समुद्री तूफान के कारण शिक्षा की दृष्टि से २००० वर्ष का समय अन्धकार का युग रहा था।

महाभारत का काल भी विद्वानों के मतानुसार पाँच हजार वर्ष पूर्व ही निर्धारित किया गया है। महाभारत में गदायुद्ध के प्रसंग के साथ यह उल्लेख है—बलदेव विनशन की ओर बढ़े जहाँ सरस्वती नदी विलुप्त होती है।[५]

महाभारत के अनुसार विनशन वह स्थान है, जहाँ विशाल जल सम्पदा वाली नदी

सरस्वती विलुप्त होती है। यह निषध राज्य का प्रवेश द्वार है। निषादों की घृणा के कारण यहाँ सरस्वती नदी पृथ्वी में समा गई ताकि कोई निषाद् उसे देख न सके।[६]

महाभारत काल के इस वर्णन से यही सिद्ध होता है कि उस समय सरस्वती नदी न तो विशाल जल सम्पदा वाली नदी थी। न इसके प्रवाह में प्रखर वेग था। न यह समुद्र तक जाती ही थी।

---

१. साहित्य संस्थान राजस्थान विद्या पीठ, उदयपुर द्वारा आयोजित ओझा आसन के अन्तर्गत भाषण माला में २३-१०-८१ को दिया गया डा.वी.एन. मिश्र का भाषण।

२. डा.एच.डी. सांकलिया : इण्डियन आर्कलाजी टुडे, पृ. ४१

३. शतपथ ब्राह्मण, १.१.३.४-५

४. ऋग्वेद, २, १२, २

५. राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परायें पृ. १३

६. महाभारत शल्य गदायुद्ध पूर्व

७. महाभारत, वन, तीर्थ यात्रा प्रयाण

महाकाव्यों के काल में राजस्थान की प्रौढ़ शिक्षा

प्राचीन मुनियों और विचारकों द्वारा भारत में तत्व-चिन्तन की जो लहर चली थी, उसके कारण यज्ञप्रधान वैदिक धर्म में बहुत परिवर्तन हो गया। उपनिषदों के तत्व-चिन्तन के परिणामस्वरूप जिस भागवत धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, इसमें याज्ञिक अनुष्ठानों का विरोध नहीं किया गया। यज्ञों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसमें एक सर्वोपरि शक्ति की सत्ता, आत्मा की अमरता, कर्मयोग की उत्कृष्टता और भागवद्भक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया।

इस काल में जन चेतना का विकास हुआ था। राजस्थान में यद्यपि राजतन्त्र का शासन था किन्तु इस काल में राजा को एक प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, एक शपथ लेनी होती थी जिसमें वह कहता था कि यदि मैं प्रजा के साथ किसी भी तरह से द्रोह करूँ, उस पर अत्याचार करूँ तो मेरे वे सभी शुभ कर्म नष्ट हो जाएँ, जो मैं जन्म से मृत्यु पर्यन्त करता हूँ। राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा का उल्लंघन न करे।

आश्रम व्यवस्था के अनुरूप मनुष्य के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर ज्ञान का उपार्जन करना आवश्यक था और बाद में वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले व्यक्ति के लिए अपने अनुभवों के आधार पर समाज को ज्ञान प्रदान करना आवश्यक था। संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाला मनुष्य मनुष्यों का उपकार करने में ही अपना सारा समय व्यतीत करता था। हर मनुष्य संन्यासी नहीं हो सकता था। जो व्यक्ति विशेष रूप से ज्ञानवान् हो, सब प्रणियों में आत्म्स-भावना रखने की सामर्थ्य जिसमें हो, वही संन्यासी बन कर भिक्षावृति द्वारा जीवन-निर्वाह करने का अधिकारी था। सन्यासी किसी एक स्थान पर स्थिर होकर निवास नहीं कर सकता था। संन्यासी का कर्त्तव्य था कि वह सर्वत्र भ्रमण करता हुआ लोगों का उपकार करे।

गृहस्थाश्रम को बहुत ऊँची दृष्टि से देखा जाता था। वशिष्ठ सूत्र में लिखा है कि जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र में जाकर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर ही आश्रित रहते हैं। जैसे बच्चे अपनी माता की रक्षा में ही रहते हैं, वैसे ही सब भिक्षुक और संन्यासी गृहस्थों की ही रक्षा में रहते हैं। ऋषि-मुनि और याज्ञिक अपने तत्व-चिन्तन के लिए गृहस्थ धर्म से विमुख होने की आवश्यकता इस युग में नहीं समझते थे।

रामायण और महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि महाकाव्य काल में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। राजा दशरथ ने कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा तीन स्त्रियों से विवाह किया था। द्रोपदी ने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुल पाँच पाण्डवों से

विवाह किया था।

कौरवों ने राजसभा में खुले तौर पर चीर-हरण कर जो अपमान किया, उससे सिद्ध होता है कि महाकाव्य काल में स्त्रियों की वह उच्च स्थिति नहीं रह गई थी जोकि वैदिक काल में थी।

महाभारत काल में बाल-विवाह की प्रथा का प्रारम्भ हो गया था। अभिमन्यु का विवाह सोलह वर्ष की आयु में हुआ था। भीष्म पितामह ने व्यवस्था की थी तीस वर्ष की आयु का पुरुष दस वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है और इक्कीस वर्ष की आयु का पुरूष सात वर्ष की बालिका से विवाह कर सकता है।[१]

इस काल में नियोग की प्रथा भी प्रचिलित थी। नियोग के विषय में कहा गया है कि पति के मर जाने पर स्त्री देवर के साथ नियोग करके सन्तानोत्पति कर सकती है।[२] पति के जीवित होने पर भी पति की अनुमति से स्त्री नियोग कर सकती थी, पाण्डवों की माता कुन्ती ने युधिष्ठर, भीम व अर्जुन नियोग द्वारा ही उत्पन्न किये थे।

महाभारत काल में परदे की प्रथा का भी सूत्रपात हो चुका था। स्त्री पर्व में लिखा है : जिन स्त्रियों को पहले देवता भी देख नहीं सकते थे, वे आज सब लोगों के सम्मुख रोती हुई दीख पड़ रही है। इसी प्रकार दुर्योधन की स्त्रियों को असूर्यम्पश्या कहा गया है जिन्हें सूर्य तक न देख सके।[३]

इस काल में धन का महत्व बढ़ गया था। द्रोणाचार्य व कृपाचार्य कहते है : धन मनुष्य का दास नहीं है, अपितु मनुष्य धन का दास है। कौरवों ने धन द्वारा हमें बाँध लिया है।[४]

---

१. अनुशासन पर्व, ४४/१२
२. वही, ४४/५०, ५१
३. शल्य पर्व, २९/७४
४. आदि पर्व, ४३/५७

महाकाव्य काल में प्रौढ़ शिक्षा का विकास

लिपि का आविष्कार कब हुआ ? इसका सही उत्तर अब तक खोजा नहीं जा सका है, किन्तु ऐसा माना जाता है, वेद व्यास ने वेद, पुराण उपनिषद् आदि का सम्पादन किया एवं उन्हें व्यवस्थित कर उनका लेखन किया। वेदव्यास के प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि महाकाव्य काल में व्यास आसन की स्थापना हुई। व्यास आसन की परम्परा आज तक प्रचलित है। जिस आसन पर बैठकर रामायण, महाभारत अथवा भागवत या शास्त्रों में निहित कथाओं का वाचन किया जाता है, उसे व्यास आसन कहा जाता है।

व्यास आसन पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी किसी भी आश्रम का व्यक्ति बैठ सकता है। व्यास आसन पर बैठने वाला व्यक्ति शास्त्रों का अध्येता होना चाहिए ताकि समाज की जिज्ञासाओं को शान्त कर सके। जनता की समस्याओं का समाधान खोजने के लिये मार्गदर्शन प्रस्तुत कर सके।

व्यास आसन को सुशोभित करने वाला व्यक्ति इस काल में पहले जन सम्पर्क करता था। उसके गहन जनसम्पर्क के कारण रात्रि के आरम्भ में सार्वजनिक स्थल पर लोग एकत्रित होते थे। जहाँ व्यास आसन पर बैठकर वह व्यक्ति शास्त्रों के माध्यम से उनकी समस्याओं का समाधान करने को मार्गदर्शन देता तथा कहानियाँ सुनाकर तथा श्लोकों को गा गाकर जनता का मनोरंजन करता। साथ ही उनकी धार्मिक अभिरुचि को विकसित करता ताकि आध्यात्मिकता की ओर उन लोगों की प्रवृत्ति विकसित हो। उनके सामने धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से आदर्श प्रस्तुत करता। इस प्रकार प्रौढ़ शिक्षा का एक स्वरूप निर्धारित होता गया।

महाकाव्य काल में प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम चरित्र निर्माण की प्रक्रिया से समन्वित होते थे ताकि समाज व्यवस्थित हो। समाज में शान्ति और व्यवस्था बनी रहे। अनुशासन बना रहे। कोई किसी का शोषण न करे। सब प्रेम से रहें। संगठन में शक्ति है, इस यथार्थ पर बल दिया जाता था ताकि सब लोग मिल-जुलकर रहें। एक-दूसरे का सहयोग करते हुए आगे बढ़ें।

वेदों, पुराणों, उपनिषदों आदि को व्यवस्थित किये जाने के कारण इस युग का बड़ा महत्व है। प्रौढ़ शिक्षा के इतिहास में इस युग का महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि प्रौढ़ शिक्षा के लिए विशेष रूप से भूमिका निभाने वाले व्यास आसन की इसी काल में परम्परा आरम्भ की गई थी।

बौद्ध काल में प्रौढ़ शिक्षा का विस्तार

बुद्ध सच्चे अर्थों में सुधारक थे। प्राचीन आर्य धर्म में जो बहुत-सी विकृतियाँ आ गई थीं, उन्हें दूर कर उन्होंने सच्चे आर्य धर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों के बारे में उन्होंने बार-बार कहा–एब धम्मो सनातनो। यही सनातन धर्म है।

बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्य हैं—(१) दुःख, (२) दुःख का हेतु, (३) दुःख निरोध और (४) दुःख को दूर करने का मार्ग। दुःख की व्याख्या करते हुए बुद्ध ने कहा—जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है। मरण-शोक रुदन और मन की खिन्नता भी दुःख है। दुःख के रूप को स्पष्ट कर बुद्ध ने कहा—दुःख का हेतु तृष्णा है। तृष्णा का त्याग करने से दुःख का निरोध हो जाता है। दुःख के निरोध का उपाय आष्टांगिक आर्य-मार्ग बताया गया है। बौद्ध धर्म के आठ अंग थे—(१) सम्यक् दृष्टि—(२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीविका, (६) सम्यक् प्रयत्न, (७) सम्यक् विचार और (८) सम्यक् समाधि।

बुद्ध के उपदेशों का प्रचार जनभाषा में किया गया। पहले बुद्ध के उनके शिष्य समाज में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे जो प्रौढ़ शिक्षा का ही एक प्रकार था, स्वरूप था। जब बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार बढ़ा तो प्रौढ़ शिक्षा का यह स्वरूप बौद्ध विहारों में सीमित हो गया। बौद्ध भिक्षुओं द्वारा विहारों में उपदेश दिये जाने लगे।

राजस्थान में यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रचार बहुत कम हो सका था किन्तु जहाँ-जहाँ प्रचार हुआ वहाँ शिक्षा के स्वरूप पर बौद्ध धर्म का प्रभाव था। मौर्य सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। इसके लिए बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को शिलाओं पर अंकित कराया गया जो शिलालेखों के रूप में यत्र-तत्र सर्वत्र मिल जाते हैं।

अशोक ने अपने साम्राज्य में धर्म विजय की नीति को अपनाया था। अशोक ने राज्य में धर्म महामात्र नियुक्त किये थे। इन धर्म महमात्रों को यह काम सौंपा गया था कि वे सब सम्प्रदायों में मेल कराएँ, जनता के हित और सुख के लिए यत्न करें और धर्मानुकूल आचरण करने वाली प्रजा को सब बाधाओं से बचाये रखें। शासन में किसी पर कठोरता न हो, कोई व्यर्थ कैद न किया जाए और किसी की व्यर्थ हत्या न हो। जो गरीब लोग हैं या जिन पर गृहस्थी आदि की जिम्मेदारियाँ हैं, ऐसे लोगों के साथ विशेष रियायत का बर्ताव हो।

धर्म महामात्रों का कार्य था सडकें बनवाना, सडकों पर वृक्ष लगवाना, कुएँ खुदवाना, सराय बनवाना, प्याऊ बिठाना, पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय खुलवाना, जनता का हित और कल्याण सम्पादित करना। जहाँ ये धर्म महामात्र इन उपायों से लोगों का हित और सुख करते, वहाँ साथ ही अशोक का धर्म सन्देश भी सुनाते थे।

शिला लेखों में धर्म के सर्वसम्मत सिद्धान्त को ही अंकित किया जाता था। ये धर्म महामात्र यह भी देखते थे कि शिल्प लेखों में निर्दिष्ट आचरण को किस सीमा तक अपना रही है। एक शिलालेख में धर्म के सम्बन्ध में लिखा है—धर्म वह है कि दासों और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाय, माता-पिता की सेवा की जाय। मित्रों, परिचितों, रिश्तेदारों, श्रमणों तथा ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय।

एक अन्य लेख में कहा गया है—माता और पिता की सेवा करनी चाहिए। प्राणियों के प्राणों का आदर दृढता के साथ करना चाहिए (अर्थात्, जीव हिंसा नही करनी चाहिए)। सत्य बोलना चाहिए। सबको अपने जाति-भाइयों के प्रति उचित बर्ताव करना चाहिए। यही प्राचीन रीति है। इसमें आयु बढती है और इसी के अनुसार मनुष्यों को चलना चाहिए।

एक अन्य लेख में लिखा है —धर्म करना अच्छा है। पर धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहें, बहुत से अच्छे काम करें, दया, दान, सत्य और पवित्रता का पालन करे।

अशोक स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी था, पर उसने जिस धर्म विजय के लिए उद्योग किया, वह किसी सम्प्रदाय विशेष की विजय न होकर सब धर्मों के सर्वसम्मत सिद्धान्तों का प्रचार ही थी। राजस्थान में यत्र-तत्र-सर्वत्र अशोक के शिलालेख मिले हैं। इससे पता चलता है कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्रौढ़ शिक्षा का यह स्वरूप एक समय तक प्रचलित रहा है जिसमें समाज के जन-जीवन का आचरण पवित्र बनाने का प्रयास किया गया था। मानव मंगल की साधना की गई थी। राजस्थान में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त जैन धर्म का भी प्रभाव था। जैन धर्म के प्रभाव में भी प्रौढ़ शिक्षा का एक स्वरूप प्रचलित था। उसमें भी आचरण सम्बन्धी उपदेश उनके उपासकों में दिये जाते थे।

जैन धर्म के अनुरूप प्रौढ़ शिक्षा का विकास

जैन धर्म के अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य मोक्ष-प्राप्त करना है। मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य क्या प्रयत्न करे, इसके लिए बताया गया है कि गृहस्थ के लिए पाँच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है—(१) अहिंसाणु व्रत—जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अहिंसा व्रत का पालन करे। मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की हिंसा करना अनुचित है। (२) सत्याणुव्रत—मनुष्यों में असत्य भाषण करने की प्रवृति अनेक कारणों से होती है। द्वेष, स्नेह तथा मोह का उद्वेग इसमें प्रधान कारण है। इन सब प्रवृत्तियों को दबाकर सर्वदा सत्य बोलना सत्याणुव्रत कहलाता है। (३) अचौर्याणुव्रत—किसी भी प्रकार से दूसरों की सम्पत्ति चोरी न करना और गिरी हुई, पडी हुई अथवा रखी हुई वस्तु को स्वयं ग्रहण न करें उसके स्वामी को दे देना अचौर्याणुव्रत कहलाता है। (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—मन, वचन तथा कर्म द्वारा पर-पुरूष का समागम न कर अपने पति से ही सन्तोष रखना स्त्री के लिए तथा पुरुष के लिए मन-वचन-कर्म द्वारा पर स्त्री गमन न करें अपनी पत्नी से ही सन्तोष रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। (५) परिग्रह-परिणाम-आणुव्रत—आवश्यकता के बिना बहुत से धन-धान्य को संग्रह न करना परिग्रह-परमाण-आणुव्रत कहलाता है। गृहस्थों के लिए यह आवश्यक है कि वे धन संग्रह करें, पर उसी में लिप्त हो जाना और अर्थ-संग्रह के पीछे भागना पाप है।

इन अणुव्रतों का पालन गृहस्थों को हमेशा करना ही चाहिए। इन अणुव्रतों का उपदेश जैन उपासकों में मुनियों के द्वारा दिया जाता था। इसके लिए विभिन्न प्रकार के दृष्टान्त दिये जाते थे। साथ ही अनेक प्रकार की कहानियों को भी कहा जाता था, जिससे इस प्रकार दी जाने वाली प्रौढ़ शिक्षा में रोचकता आ जाती थी। सामान्य सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थों को अधिकतर कठोर व्रतों का पालन करने की दीक्षा लेने की भी प्रेरणा दी जाती थी। इन कठोर व्रतों को गुणव्रत कहा जाता है। (१) दिग्विरति—गृहस्थ को चाहिए कि कभी कभी यह व्रत ले कि मैं इस दिशा में इससे अधिक दूर नहीं जाऊँगा। (२) अनर्थ दण्ड विरति—मनुष्य को ऐसे कार्यों से बचना चाहिए जिनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। (३) उपभोग परिभोग परिमाण—गृहस्थ को यह व्रत ले लेना चाहिए कि मैं परिमाण में इतना भोजन करूँगा, भोजन में इतने से अधिक वस्तुएँ नहीं खाऊँगा और इससे अधिक भोग नहीं करूँगा।

स्मृति काल की प्रौढ़ शिक्षा

इसे पुराण काल भी कहा जाता है और स्मृति काल भी। पुराण काल इसे इसलिए कहा जाता है क्योंकि इस काल में अधिकतर पुराणों का निर्माण किया गया। स्मृति काल इसलिये कहा जाता है क्योंकि समाज में प्रचलित नियमों, परम्पराओं, प्रणालियों और पद्धतियों का आलेखन किया गया। समाज में जिनके द्वारा व्यवस्था दी जाती थी, दण्ड विधान निर्धारित होता था, इनका आलेखन जो ऋषि करता था उसी के नाम से वह स्मृति प्रसिद्ध हुई यथा मनु स्मृति, याज्ञवल्य स्मृति, नारद स्मृति आदि। स्मृतियों के इस काल में जो प्रौढ़ शिक्षा का स्वरूप प्रचलित था उसे चरण शिक्षा का नाम दिया गया।

एक गुरुकुल में शिक्षा पाने वाले शिष्यगण उसी सम्प्रदाय का विशेष रूप से प्रचार करते थे। उनका गुरुकुल जिस सम्प्रदाय से सम्बद्ध होता था। अपने सम्प्रदाय को जन-जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए ये लोग गाँव-गाँव घूमते थे और अपने सम्प्रदाय के अनुरूप विचारों का प्रचार करते थे।

इस चरण विद्या में जो लोग किसी पुराण विशेष के प्रति श्रद्धा रखते थे वे लोग अपने प्रिय पुराण में प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। जनता शास्त्रों से उद्धृत दृष्टातों तथा कहानियों को बड़े मनोयोग से सुनती थी और उनमें अन्तर्निहित शिक्षा के अनुरूप आचरण अपनाने का प्रयास करती थी।

इस काल में प्रौढ़ शिक्षा के विविध आयाम विकसित हो चुके थे जिनमें कहानी पद्धति का शुभारम्भ और विकास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कहानी पद्धति से प्रौढ़ शिक्षा देने का श्रेष्ठतम उदाहरण पंच तन्त्र है। पंच तन्त्र की कहानियाँ इतनी अधिक रोचक थीं कि इनका प्रचलन अपने देश में तो हुआ ही, इनका प्रचार विदेशों तक जा पहुँचा। इसी कारण इन कहानियों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद किया गया।

प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में पंच तन्त्र की कहानियों ने एक नये युग का सूत्रपात किया। इनके माध्यम से जीवन के हर क्षेत्र का ज्ञान कराना संभव हो सका। कहानियों की रोचकता ने जनजीवन को विशेष रूप से आकर्षित किया। फलतः प्रौढ़ शिक्षा के स्वरूप का विस्तार हुआ और जन-साधारण ने इसमें विशेष रुचि ली। अत्यन्त सुरुचि के साथ भाग लेने के साथ-साथ जन सामान्य इस दिशा में सक्रिया भी हुआ और संलग्न भी।

प्रौढ़ शिक्षा का स्वरूप प्राचीन काल से पूर्णतया अनौपचारिक रहा। राजस्थान में प्रौढ़ शिक्षा का निरन्तर विस्तार होता रहा, इसमें ग्राम संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा। ग्राम संस्थाओं का स्वरूप उस समय छोटे-छोटे राज्यों के समान था। ग्राम संस्थाएँ अपने-आप में पूर्ण थीं। उन्हें जो कुछ भी चाहिए था, उनके अन्दर मौजूद था। इनमें लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी। राजवंश आते और जाते रहे किन्तु ग्राम संस्थाओं का स्वरूप यथावत्

बना रहा। शिक्षा पर खर्च करना ग्राम संस्थाओं का महत्वपूर्ण काम था। ग्राम संस्थाओं के स्वरूप को यथावत् बनाये रखने में प्रौढ़ शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान था। प्रौढ़ शिक्षा के निरन्तर विकास होते रहने के कारण राजस्थान के ग्राम समृद्ध बने रहे। साथ ही सम्पूर्ण देश के आकर्षण केन्द्र भी बने रहे। प्राचीन काल में राजस्थान की प्रौढ़ शिक्षा अत्यन्त उन्नत अवस्था में थी।

राजस्थान में मध्य कालीन प्रौढ़ शिक्षा

राजपूत काल

प्रौढ़ शिक्षा की दृष्टि से राजपूत काल ने राजस्थान में एक नये युग का सूत्रपात किया। इस समय छोटे- छोटे अनेक राज्य बने जिसमें राजवंशों का शासन आरम्भ हुआ। ये छोटे-छोटे राज्य किसी-न-किसी बात पर लड़ते रहते थे। सुरक्षा की दृष्टि से लड़ने भिड़ने का प्रशिक्षण प्राप्त करना लगभग हर व्यक्ति के लिए आवश्यक हो गया था। फलतः प्रौढ़ शिक्षा की चेतना का विकास-क्रम पहले जैसा नहीं रहा।

शास्त्रों की झनकार सुनाई देने लगी जो निरन्तर बढ़ती ही गई। लड़ने-भिड़ने की प्रवृति बदली गई जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज में मरने का आंतक कम होता गया। नैतिकता के मानदण्ड बदलते गए। युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने को वीर गति माना जाने लगा जिसे आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा।

वीरता, शौर्य और पराक्रम की पूजा होने लगी। सुरक्षा की दृष्टि से गढ़ और किले बनाये जाने लगे। किलेदार, जागीरदार, सरदार और सामान्तगण राज्य के स्तम्भ बने। ये सब लड़ने-भिड़ने की कला के विशेषज्ञ थे। एक नया वातावरण बना जिसमें शिक्षा का चैतन्य क्रमशः कम होता गया।

इस अशान्ति काल में नैतिकता के नये मानदण्ड निर्धारित किये गए। हर समय युद्ध की संभावना के कारण उद्योग, व्यापार और व्यवसाय पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया। फलतः कृषि की उन्नति के लिए उतने प्रयास नहीं किये गए जितने किये जाने चाहिये। पशुधन की समृद्धि के लिए भी यथेष्ट प्रयास नहीं किये गये। इस कारण समाज इस काल में उन्नति की ओर अग्रसर न हो सका।

राजपूत काल के बाद मुस्लिम आक्रमण ने समाज को अस्त-व्यस्त किया। विदेशी आक्रमण का प्रतिरोध राजपूत शासकों ने एक लम्बे समय तक किया। देश में अन्य भागों में मुस्लिम शासन स्थापित हो जाने के बाद भी शताब्दियों तक राजस्थान में स्वतन्त्रता का संघर्ष चलता रहा।

संघर्ष काल में प्रौढ़ शिक्षा के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। इसे मध्य काल कहा जाता है। राजस्थान इस समूचे काल में विभिन्न संस्कृतियों का संगम-स्थल रहा। मुस्लिम संस्कृति का प्रचार-प्रसार करने के लिए मुस्लिम फकीर, औलिया और सूफी सन्हा गाँव-गाँव जाकर जो उल्लेखनीय कार्य कर रहे थे उसे प्रौढ़ शिक्षा का ही एक प्रकार कहा जा सकता है। दूसरी ओर, साधु-सन्त और विद्वज्जन गाँव-गाँव घूम कर रामायण, महाभारत, भागवत तथा शासकों के उल्लेखनीय अंशों से जन-साधारण को परिचित कराने के माध्यम से प्रौढ़ शिक्षा की मशाल जलाये हुए थे। इसके अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा का कार्य आगे बढ़ाने में राजस्थान के लोक तीर्थों की भी उल्लेखनीय भूमिका रही है।

मुल्ला, मौलवी, फकीर, सूफी सन्त, औलिया जब कभी किसी गाँव में पहुँचते, उससे पहले उनकी ख्याति वहाँ पहुँचती। उससे जन सम्पर्क करने की सुविधा उन्हें मिल जाती। जो इतने प्रसिद्ध नहीं होते, वे इस स्थान पर झाड़-फूँक करते, इसके द्वारा लोगों के रोगों का नाश करते तथा अपनी सिद्धियों के चमत्कार से लोगों को प्रभावित करते। इसके अतिरिक्त सामान्य रोगों की जड़ी-बूटियों अथवा वनस्पतियों द्वारा औषधि का निदान बताते। इस प्रकार सम्पर्क कर एक वातावरण बनाते, तदनन्तर सायंकाल एक सार्वजनिक स्थल पर लोगों को एकत्रित करते और अपनी बात कहते। इस प्रकार अपने मत का प्रचार करते थे।

पोथा-पत्रा लेकर गाँव में पहुँचने वाला व्यक्ति गाँव के लोगों से सम्पर्क करने का एक दूसरा रास्ता अपनाता था। यह पत्रा देखकर किसी को तिथि बतलाता, किसी को पूर्णिमा, अमावस अथवा एकादशी के बारे में बतलाता। किसी का हाथ देख कर उसके भाग्य और भविष्य की बात करता, किसी की जन्म-पत्रिका देखकर उसके सुख-दुःख की चर्चा करता। किसी को विवाह, गृह प्रवेश, मुण्डन आदि का मुहूर्त बताता। एक अच्छा जन-सम्पर्क हो जाने पर सायंकाल सबको एकत्रित करता और रामायण, महाभारत या भागवत आदि की कथाएँ बाँचकर सुनाता था। उस समय प्रौढ़ शिक्षा का एक स्वरूप यह भी था।

राजस्थान में कट्टर पन्थी शासकों द्वारा जब मन्दिर ढहाये गये, मूर्तियाँ तोड़ी गई, हिन्दुओं को बलपूर्वक इस्लाम ग्रहण करने पर बाध्य किया गया तो हिन्दुओं का विश्वास डोलने लगा। उस समय युग की आवश्यकता के अनुरूप साधकों ने भजन, नृत्य, गायन ध्यान आदि द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया कि ईश्वरीय भक्ति, मन्दिरों अथवा मूर्तियों में नहीं अपितु अपनी साधना में सँजोकर प्राप्त की जा सकती है। इससे जनता में धर्म से डगमगाया विश्वास पुनर्गठित होने लगा। इस महान् कार्य को करने वाले अपने साधु-सन्त हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख उपयोगी हो सकता है, जिन्होंने अपने मत का प्रचार जिस प्रकार किया उसे प्रौढ़ शिक्षा का ही एक स्वरूप कहा जा सकता है।

विश्नोई सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जाम्या जी पंवार राजपूत थे। इनका जन्म १४५१ ई. में नागोर के पीपासर गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम लोहर जी तथा माता का नाम हंसादेवी था। माता-पिता के इकलौते पुत्र होने के कारण यह उनके बहुत लाड़ले थे। बचपन से ही जम्भो जी एकान्तप्रिय थे।

गाएँ चराना इन्हें विशेष प्रिय था। जंगल के शान्त वातावरण में गाएँ चराते हुए चिन्तन में लीन रहा करते थे। कहा जाता है कि १६ वर्ष की आयु में ही इन्हें सद्गुरु का साक्षात्कार मिला। इसके बाद गुरु से दीक्षा ले कर यह सत्संग करने लगे और हरिवार्ता में समय व्यतीत करने लगे।

जाम्भो जी ने अनुभव किया ईश्वर एक है, उसके नाम अनेक हैं, वह सर्वव्यापी है। आत्मा अमर है। कर्म के अनुरूप फल मिलता है। मानव शरीर पूर्व जन्म के पुण्य से प्राप्त

होता है। आवागमन से छुटकारा पाने की स्थिति ही मोक्ष है। यह गुरु की कृपा से ही संभव है। आवागमन से मुक्ति पाने के लिए विष्णु जाप करना एक मार्ग है।

उन्होंने वैदिक, जैन, बौद्ध और इस्लाम आदि धर्मों का अध्ययन किया और हर धर्म से अच्छी बात ग्रहण की। धर्म के नाम पर प्रचलित आडम्बरों, ढोंग और पाखंडों का उन्होंने जोरदार खण्डन किया। उनका प्रमुख ग्रन्थ जन्यवाणी या सबद वाणी नाम से जाना जाता है।

उनकी शिक्षाओं को मानने वालों को विश्नोई कहा जाता है। उनकी शिक्षाएँ है— मासिक धर्म की दशा में पांच दिन तक स्त्री से दूर रहें, हमेशा नहाएँ, सन्तुष्ट रहें, पानी शुद्ध पिएँ, आरती करें, आग में घी डाल कर होम करें। चोरी न करें, झूठ न बोलें, हिंसा न करें, सोच-समझकर बोलें, क्रोध एवं निन्दा न करें, हरा वृक्ष न काटें, अमावस्या का व्रत करें, भेड़, बकरी व बैल को बधिया न करें। उन्होंने नशीले पदार्थों का भी विरोध किया। अमल, शराब, तम्बाकू, भंग न खाए न पीए। नील लगे कपड़े को छूने के लिए मनाही की। संसार से अधिक मोह न करें। सभी प्रणियों पर दया भाव रखें। वाद-विवाद से बचें। मूर्ति-पूजा न करें।

निरंजनी सम्प्रदाय

यह सम्प्रदाय तो प्राचीन काल से चला आ रहा था किन्तु इसें प्रतिष्ठित करने के कारण हरिदास जी को इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक माना जाता है। इनका जन्म १४५२ ई. में डीडिवाना के कापड़ोद गाँव में हुआ था। यह साँरवला गोत्र के क्षत्रिय थे। ४४ वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर यह भ्रमण करने लगे। इनके उपदेशों से प्रभावित होकर शिष्यत्व ग्रहण करनें वालों की संख्या बढ़ती गई। इनका शिष्य परिवार निरंजनी सम्प्रदाय के नाम से जाना गया।

यह सम्प्रदाय ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का मिश्रण है। हरिदास जी ने कबीर की साधना पद्धति को अपनाया। अलख निरंजन, हरि निरंजन, राम निरंजन का प्रयोग इस सम्प्रदाय में किया जाता है। इस सम्प्रदाय के विरक्तों को निहंग कहा जाता है। निहंग खाकी रंग की गूदड़ी गले में डालते हैं, पात्र रखते हैं और भिक्षा द्वारा निर्वाह करते हैं। डीडिवाना के पास गाढ़ा गाँव में फाल्गुन सुदी १ से १२ तक मेला लगता है जिसमें इस सम्प्रदाय के लोग एकत्रित होते हैं।

जसनाथी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सिद्ध जसनाथ का जन्म कार्तिक सुदी ११ वि.सं. १५३९ में बीकानेर के कातरियासार में हुआ। सदुरु से अश्विन शुक्ल ७ वि.सं. १५५१ को दीक्षा ग्रहण की और साधना करने लगे। सिद्धि प्राप्त होने पर सिद्ध जसनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका सम्प्रदाय जसनाथी सम्प्रदाय कहलाता है।

इस सम्प्रदाय के प्रत्येक अनुदायी को अनिवार्यतः ३६ नियमों का पालन करना होता

है—उत्तम कार्य करते हुए चलना, स्वधर्म के पालन का मार्ग अपनाना, हिंसा नहीं करना, सफाई के साथ केशों को धारण करना, स्नान करके भोजन करना, मांस न खाना, सदैव ध्यान पूर्वक शील-शौच सन्तोष का पालन करना, दोनों काल सन्ध्या करते हुए ईश्वर का ध्यान करना, हवन करना, दूध-पानी को कपड़े से छानकर पीना, मोक्ष-प्राप्ति के रास्ते खोजना, कन्या विक्रय न करना, ब्याज पर ब्याज न लेना, धन के अनुपात में बीसवां हिस्सा धर्म कार्य में खर्च करना, मन एवं वचन से किसी की निन्दा न करना, धूम्रपान का त्याग करना, जंगल के भोले जीवों की रक्षा करना, पशु कसाई को न बेचना, अतिथि सत्कार करना, चोरी आदि बुरे कर्मों का मन-वचन-कर्म से त्याग करना, जन्म-मरण से १० दिन तक सूतक मानना, मदिरा पान नहीं करना, भाँग-गाँजा-चरस आदि नहीं पीना, पक्षियों को चुग्गा देना तथा गरु मन्त्र से दीक्षित होना।

मीरा दासी सम्प्रदाय

मीरा को राजस्थान की मन्दाकिनी कहा जाता है। मीरा का जन्म मेड़तिया राठौड़ वंश के राव दूदा जी के चौथे पुत्र रत्नसिंह के घर १४९९ ई. में हुआ था। मीरा अपने माता-पिता की इकलौती पुत्री थी। मीरा की अल्पायु में ही माँ का साया उठ गया, अतएव वह अपने दादा के पास ही रहने लगी। मेड़ता के पास कुड़की गाँव में जन्म लेने वाली मीरा ने भक्ति के एक नवीन मार्ग की स्थापना करके धार्मिक सम्प्रदाय के लिए एक चुनौती स्थापित की, साथ ही राजपूती एवं राजवंशीय परम्पराओं की सीमाओं को तोड़कर एक नये कीर्तिमान की स्थापना भी की।

१९ वर्ष की आयु में मीरा का विवाह महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हो गया। मीरा अपने लौकिक पति का सुख अधिक नहीं देख सकी। १५२३ ई. में भोजराज की मृत्यु हो गई। लौकिक सुहाग से वंचित मीरा को एक के बाद एक अनेक दुःख झेलने पड़े। मीरा के पिता रतसिंह १५२७ ई. में खानवा के युद्ध में काम आए। श्वसुर महाराणा साँगा का १५२८ ई. में देहान्त हो गया। चित्तौड़ में गृह कलह ने भयानक रूप धारण कर लिया। मीरा दुःखों पर दुःख आने पर भी अपने मार्ग पर अटल रहीं। वह अपने गिरधर गोपाल में लीन रहीं। इस कारण उन्हें अनेक प्रकार की प्रतारणाएँ झलेनी पड़ी। विष का प्याला और नाग की विहारी तक भेजी गई। तरह-तरह के व्यंग्य बाण भी उन्हें झेलने पड़े किन्तु नटवर नागर के प्रति उनका प्रेम और प्रगाढ़ होता गया।

मीरा की भक्ति भावना के अधिक निकट होने के कारण ही सर्वग्राह्य और लोकप्रिय हो सकी। उन्होंने भावनामूलक सरल, सहज एवं सरस मार्ग अपनाया है। इसी कारण राजस्थानियों पर उनके भजनों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि न केवल जनता जनार्दन ने इन भजनों को अपनाया अपितु यहाँ प्रचलित कई संप्रदायों के सन्तों ने अपनी पोथियों में अपने गुरु की वाणियों के साथ मीरा के पदों को स्थान दिया है।

दास्य भाव से भगवान् की उपासना करने वालों का सम्प्रदाय ही वास्तव में मीरा दासी सम्प्रदाय है। मीरा की भक्ति प्रेम-भक्ति थी। उनके आराध्य गिरधर गोपाल थे। लोक में

इसका साक्ष्य देखा जा सकता है—

नरसी के प्रभु सांवलिया हो, सूरदास के श्याम।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, तुलसी दास के राम॥

लालदासी सम्प्रदाय

लालदास इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। इनका जन्म १५४० ई. में अलवर के धौलीधूप गाँव के मेव परिवार में हुआ था। यह बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे। धन्धे से वह लकड़हारे थे। सत्संग के प्रभाव से इन्होंने काफी कुछ सीख लिया था। सीखी हुई बातों का जन सामान्य में इन्होंने प्रचार किया। नगला नामक गाँव में इनकी समाधि है जो इस सम्प्रदाय वालों के लिए तीर्थ है। इस सम्प्रदाय पर कबीर एवं दादू सम्प्रदाय का काफी प्रभाव है।

दादू पंथ

संत दादू दयाल इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। दादू का जन्म १५४४ ई. में हुआ था। १५७४ ई. में दादू ने ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके बाद जीवनपर्यन्त इसी सम्प्रदाय के विकास एवं प्रचार-प्रसार में लगे रहे। यही ब्रह्म सम्प्रदाय बाद में दादू पंथ या दादू सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ।१

१५८५ ई. में इनकी भेंट मुगल सम्राट अकबर से भी हुई, उस समय सन्त दयाल फतहपुर सीकरी में ४० दिन का सत्संग कर रहे थे। तदनन्तर दादू पुनः अजमेर आ गए। इन्होंने गाँव-गाँव घूमकर अपने उपदेशों का प्रचार प्रसार किया। दादू की शिष्य परम्परा में १५२ शिष्य माने जाते हैं। इनमें १०० शिष्य तो आत्म चिन्तन में इतने अधिक लीन थे कि न तो इन्होंने शिष्य बनाये और न किसी स्थान पर विशेष रहे। बाकी ५२ शिष्यों ने अपनी शिष्य परम्परा को अक्षुण्ण रखा। अतः उन्हें ५२ थांबा कहा जाता है।

दादू दयाल बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु बहुत श्रुत अवश्य थे। दादू ने गहन चिन्तन एवं मनन किया। तदनन्तर अपने दार्शनिक विचारों को सुस्पष्ट करने का प्रयास किया। इन्होंने परमात्मा को सर्वशक्तिमान, निराकार, स्वयंभू, समर्थ, परम दयालु माना है जो सर्वत्र व्याप्त है। उसकी शक्ति वर्णनातीत है।

दादू ने जीव एवं ब्रह्म को एक मानते हुए बताया है कि जब जीव माया या कर्मों के वशीभूत हो जाता है तभी ब्रह्म से दूर हो जाता है। माया का पर्दा जब तक गिरा रहेगा तब तक जीव ब्रह्म के साथ एकाकार नहीं हो सकेगा। वास्तव में जीव अथवा आत्मा एवं परमात्मा के बीच विभेद कराने वाली शक्ति ही माया है।

माया साँवणि सब डसे, कनक कामनी होई।
ब्रह्मा, विष्णु, महेस लौं, दादू बचै न कोई॥

दादू सच्चे माने में एक समाज-सुधारक थे। उन्होंने समाज में व्याप्त बुराइयों, आडम्बरों, ढोंग भेद-भाव आदि का खण्डन किया है। उन्होंने हिन्दुओं एवं मुसलमानों दोनों

को समझाया है। वह जाति-पाँति एवं वर्ग-भेद के पचड़े में विश्वास नहीं करते हैं। वह स्वयं को न हिन्दू मानते हैं न मुसलमान। हिन्दू मुसलमान की एकता एवं अभिन्नता के लिए दादू ने तर्क पूर्ण भाषा में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

राम स्नेही सम्प्रदाय

१८वीं शताब्दी में राजस्थान संक्रमण काल से गुजर रहा था। उसी समय धार्मिक क्षेत्र में एक अविस्मरणीय क्रान्ति हुई जिसे राम स्नेही सम्प्रदाय के नाम से पुकारा गया। राजस्थान में इस सम्प्रदाय के चार प्रमुख केन्द्र—रेण, शाहपुरा, सिंहथल तथा खेड़ापा में क्रमशः दरियाव जी, रामचरण जी, हरि रामदास जी तथा रामदास जी द्वारा स्थापित किये गए। ये रामानुज को अपना प्रथम आचार्य मानते हुए इन्हीं से अपनी शिष्य परम्परा प्रारम्भ करते हैं।

सन्त दरियाव जी

इनका जन्म १६७६ ई. में जैतारण गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम मानझा और माता का नाम गीगा था। सात वर्ष की अल्पायु में ही उनके सिर से पिता का साया उठ गया। अतः दरियाव जी अपनी माँ के साथ रेण नाना के घर आ गए वहाँ काशी के एक पण्डित स्वरूपानन्द से इनकी भेंट हुई जो दरियाव जी को काशी अपने साथ ले गए। यहाँ रहते हुए इन्होंने शास्त्र सम्मत ज्ञान प्राप्त किया।

उपनिषद् का अध्ययन करते हुए इन्होंने अनुभव किया कि बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यह गुरु की खोज में इधरर-उधर भटकने लगे। १७१२ ई. में प्रेमदास को इन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया और उन्होंने उन्हें दीक्षा दी। खेजड़ा नामक स्थान पर इन्होंने साधना आरम्भ की। साधना की अन्तिम मंजिल प्राप्त कर लेने पर इन्होंने स्थान-स्थान पर घूम-घूमकर उपदेश देना शुरू किया। उनके अनेक शिष्य हो गये। रेण में इनका समाधि-स्थल है। इनके समाधि-स्थल पर प्रतिवर्ष चैत्र सुदी पूर्णिमा को एक मेला लगता है जिसमें इनके अनुयायी एकत्रित होकर दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

दरियाव जी की शिक्षाओं में गुरु-भक्ति एवं सत्संग पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। उन्होंने बताया है कि गुरु भक्ति से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। गृहस्थ में रहते हुए मनुष्य अपने गुरु से प्राप्त सबद का निरन्तर जाप करता है। कर्मकाण्ड में इनका विश्वास नहीं था। उन्होंने राम नाम के सुमिरन को सर्वाधिक सार्थक बतलाया है।

सन्त राम चरण

मेवाड़ राज्य में राम स्नेही सम्प्रदाय का उद्‌भव एवं विकास उत्तर मध्यकाल की एक महत्वपूर्ण घटना थी। डिग्गी तहसील के सोडा गाँव में शनिवार माघ शुक्ला चतुर्दशी विक्रम संवत् १७७६ ई. को विजयवर्गीय वैश्य रामचरण जी का जन्म हुआ। राम चरण शुरू से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। जयपुर के नरेश ने इन्हें अपना मन्त्री बना लिया था किन्तु इन्होंने राज्य की नौकरी छोड़ दी।

२४ वर्ष की अवस्था में सद्गुरु की आवश्यकता इन्हें अनुभव हुई। गुरु की खोज में यह काफी घूमे। मेवाड़ के दाँतडा गाँव में जब यह पहुँचे तो सन्त कृपाराम जी से इनकी भेंट हुई। गुरुवार भाद्रपद शुक्ल सप्तमी विक्रमी सं. १८०८ को सन्त कृपाराम ने इन्हें दीक्षा दी। गुरु ने इन्हें राम नाम का मूल मन्त्र दिया। सात वर्ष तक इन्होंने कठिन तप किया।

१७५८ ई. में रामरचरण जी जयपुर के निकट गलता जी के मेले में गए। वहाँ उन्हें साधुओं में व्याप्त अनाचार और बुराइयों का कटु अनुभव हुआ। रामचरण जी का मन फट गया। वहाँ से वह भीलवाड़ा चले आए। निर्गुण भक्ति की अन्तप्ररेणा से वे उपदेश देने लगे। शाहपुर के राजा रणसिंह ने इन्हें बुलाया। १७६९ में वे शाहपुरा चले गए। वहाँ उनके विचारों का स्वागत हुआ और उनके मानने वालों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही गई।

रामचरण की पुस्तक अणभैवाणी है। उन्होंने गुरु महिमा पर बड़ा बल दिया है। उनकी मान्यता है कि गुरु ब्रह्मरूप होता है जो मानव को भवसागर से पार उतारता है। इसी प्रकार राम नाम के स्मरण को महत्वपूर्ण बताते हुए मोक्ष-प्राप्ति की बात कही है। उन्होंने सत्संग की महिमा बताते हुए कहा कि जिस प्रकार से गन्दा पानी गंगा में जाकर स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार बुरे से बुरा व्यक्ति भी साधु-सन्तों का सान्निध्य पाकर उनके जैसा ही हो जाता है। इसलिए उन्होंने साधुओं की संगति में रहने का मनुष्यों को उपदेश दिया।

संत हरिराम दास जी

यह सिंहथल शाखा के प्रवर्त्तक थे। इनका जन्म सिंहथल में एक ब्राह्मण परिवार में भागचन्द जोशी के यहाँ हुआ। रामी इनकी माता का नाम था। यह गृहस्थ थे। इनकी पत्नी का नाम चांपा था। इनके पुत्र का नाम बिहारीदास था। १७४३ ई. में इन्होंने जैमलदास जी को अपना गुरु बनाया।

इन्होंने कठिन साधना की। कुछ की वर्षों की साधना के अनवरत क्रम में इन्होंने पूर्णत्व प्राप्त कर लिया तदनन्तर यह घूम-घूमकर उपदेश देने लगे। सिंहथल में बना हुआ बड़ा रामद्वारा इस महान्सन्त की याद को ताजा कर देता है। यह रामचरण जी के समकालीन थे। अतः इनकी शिक्षाओं में काफी साम्य है।

संत रामदास जी

यह खेड़ापा शाखा के प्रवर्त्तक थे। इनका जन्म 1726 ई. में बीकमकोर नामक गाँव में हुआ था। पिता का नाम शादूल जी था तथा माँ का नाम अणभी था। यह जाति से मेघवाल थे। बचपन में माँ के मर जाने से पिता के साथ खेड़ापा में आकर रहने लगे। यह गृहस्थ थे।

१७५२ ई. इन्होंने संत हरिरामदास जी से दीक्षा ली। राम नाम का महामन्त्र ग्रहण कर मेलाना में भक्ति करने लगे। १७६५.ई. में यह खेड़ापा में आकर रहने लगे। यह उपदेश देने के लिए भ्रमण करते थे। इनका केन्द्र स्थल खेड़ापा ही था। इनके उपदेश सहज, सरल

और बोधगम्य होते थे। इन्होंने अन्य सन्तों की भाँति गुरु भक्ति और राम नाम के स्मरण पर बल दिया तथा समाज में व्याप्त बुराइयों, कर्मकाण्डों, ऊँच-नीच, वर्णव्यवस्था व आडम्बर आदि का खण्डन किया।

चरणदासी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक चरणदास थे। इनका जन्म १७०३ ई. में मेवात प्रदेश के टेहरा नामक गाँव में हुआ था। जाति से यह ढूसर बनिया थे। इनके पिता का नाम मुरलीधर तथा इनकी माता का नाम कुंजी था।

१८ वर्ष की आयु में इन्होंने साधना आरम्भ की। ३० वर्ष की आयु में अपने मत का प्रचार प्रसार करने लगे। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत निष्काम प्रेम तथा सदाचरण पर बल देते हुए गुरु भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया गया है। टेहरा गाँव में सन्त चरणदास की छतरी बनी है जहाँ प्रति वर्ष बसन्त पंचमी को मेला लगता है।

लोक देवता

राजस्थान में त्याग, प्रेम, कर्त्तव्य पालन तथा वीरत्व के आदर्श स्थापित करने वाले कुछ ऐसे महापुरुष हुए हैं जो श्रद्धा के कारण देवता के रूप में स्वीकार किये जाते हैं और उनकी पूजा-अर्चना की जाती हैं। लोक देवता के रूप में इनकी प्रतिष्ठा हो जाने से इनकी मान्यता बढ़ी और इसकी पूजा के माध्यम से मेला आदि आयोजित कर जनता को अनौपचारिक रूप से शिक्षित करने का क्रम संचालित किया जाता है।

इस प्रकार के लोक देवताओं में गोगा जी का नाम अग्रगण्य है। गोगा जी ११वीं शताब्दी के आप-पास हुए थे। इनके पिता का नाम जेवर और माता का नाम बाछल था। जेवर ददेरवा के शासक थे। कहा जाता है कि मोहम्मद गोरी के आक्रमण के समय गायों की रक्षा करते हुए अपने प्राण त्याग दिये थे। तब से राजस्थान में गोग जी की पूजा होने लगी और आज भी भादवा बदी 9 को गोगा नवमी के रूप में उत्सव मनाया जाता है।

गोगा जी साँपों के देवता भी माने जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गोगा जी को मानने वाले को साँप नहीं काटता है और यदि किसी व्यक्ति को साँप काट भी ले तो गोगा जी का भोपा उसे चूसकर ठीक कर देता है। गोगामेडी एवं ददरेवा की मेड़ी गोगा जी के विशेष पूजा-स्थल के रूप में माने जाते हैं।

गोगा जी की भाँति ही तेजा जी ने भी गायों की रक्षा करते हुए प्राणों का उत्सर्ग किया था। यह नागोर परगने के खड़नाल नामक गाँव के जाट जाति के थे। इनके पिता का नाम ताहड़ जी और माता का नाम राम कुँवरी था। इनकी वीरता के सम्बन्ध में अनेक लोक-कथायें प्रचलित हैं जिनसे इनके साँपों के देवता होने का यथार्थ सिद्ध होता है।

गायों की रक्षा करते हुए जब तेजा जी क्षत-विक्षत हो गए तब सुरसरा में सर्प ने इनकी जिह्वा डँस कर इन्हें मौत की गोद में सुला दिया। आज भी गाँवों में तेजा जी के प्रति लोगों के मन में अपार श्रद्धा है। साँप के काट लेने पर इलाज न कराके तेजा जी को ताँती बाँध-कर ठीक

होने की कल्पना की जाती है। सुरसरा में भी तेजा जी का एक मन्दिर बना है लेकिन परवतसर तेजा जी का प्रमुख स्थान है। भादवा सुदी १० को राजस्थानी ग्रामीणजन तेजा दसमी के रूप में परवतसर में मनाते हैं। विशेषतः जाटों में तेजा जी की पूजा-अर्चना अधिक होती है।

चमत्कारों के कारण प्रसिद्धि पाने वाली लोक देवी करणी माता का नाम राजस्थान में बड़े आदर से लिया जाता है। श्री करणी जी का जन्म विक्रम संवत् १४४४ की आसोज सुदी ७ को सुवाप नामक गाँव में चारणों की किनिया शाखा में हुआ। इनके पिता का नाम मेहा जी तथा माता का नाम देवल बाई था।

बचपन में ही श्री करणी जी ने कुछ ऐसे कार्य किये जिनके कारण इनकी प्रसिद्धि आस-पास के प्रदेशों में फैल गई। पाँच वर्ष की आयु में इन्होंने अपनी जुड़ी हुई उँगलियाँ ठीक कर दीं। ६ वर्ष की उम्र में उन्होंने अपने पिता का सर्प दंश उतारकर उन्हें पुनः जीवन प्रदान किया।

श्री करणी जी के सहयोग से राव शेखा की लड़की का विवाह राव जोधा जी के पुत्र बीका जी से हुआ था। श्री करणी जी का विवाह २९ वर्ष की उम्र में साठीका गाँव के चारण देपा जी से हुआ था। श्री करणी जी की कृपा से रणमल्ल मंडोवर का स्वामी बना था। जोधा जी के राजा बनने पर जोधपुर के किले की नींव श्री करणी जी ने ही डाली थी।

देशनोक में श्री करणी जी का प्रसिद्ध मन्दिर है। इस मन्दिर में असंख्य चूहे हैं। इनका रंग-रूप घरों में पाये जाने वाले चूहों से भिन्न होता है। ये मन्दिर में आजादी से इधर-उधर विचरण करते हैं। इन्हें खाने के लिए दूध, अनाज एवं मिठाई दी जाती है।

लोक तीर्थ

राजस्थान में लोक तीर्थ भारतीय लोक आत्मा की संवेदना को जीवित रखने की दृष्टि से मूल्यवान् योगदान करने वाले हैं। ये जन जन की आस्था के केन्द्र हैं। लोक तीर्थों में से प्रत्येक स्थल पर ऐसी दिव्य शक्ति के विद्यमान होने की मान्यता है जिसके सम्पर्क में आकर मनुष्य बुराइयाँ त्याग कर अच्छाइयों की ओर प्रवृत्त होता है। जहाँ मनुष्य के पाप स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

लोक तीर्थों का सम्बन्ध मानव की अन्तश्चेतना के साथ जुड़ा है। लोक तीर्थ निश्चय ही लोक धर्म के प्रतीक हैं किन्तु इनमें अद्‌भुत एकता की भावना है जिसके कारण संकीर्णता स्वतः नष्ट होती है। राजस्थान के छोटे-से-छोटे गाँव में, खड़े या ढाणी में भी किस-न-किसी देवता या संन्यासी की मूर्ति पूजी जाती है। लोक मान्यता की अभिव्यक्ति देने वाले ये तीर्थ सभी धर्मों का एक रंग प्रदर्शित करते हुए मानव मन को उदात्तता के चैतन्य की ओर प्रवृत्त करने के माध्यम से प्रौढ़ शिक्षा के आलोक स्तम्भ रहे हैं।

पुष्करराज

तीर्थराज पुष्कर हमें भारतीय संस्कृति के पुरातन से जोड़ता है। यहाँ प्रत्येक पूर्णिमा को लगभग २००० यात्री आते हैं। हर वर्ष कार्तिक शुक्ला एकादशी से कार्तिक पूर्णिमा तक

पुष्कर में एक विशाल मेला लगता है जिसमें देश के कोने-कोने से लगभग डेढ़ लाख यात्री भाग लेते हैं। वैशाख शुक्ला एकादशी से वैशाखी पूर्णिमा तक एक और मेला यहाँ लगता है जिसमें आस-पास के स्थानों से लगभग छः हजार यात्री भाग लेते हैं। सामान्य दिनों में भी पुष्कर की यात्रा करने वालों की संख्या काफी रहती है।

पौराणिक युग से ही पुष्कर पर स्नान, दान, तर्पण आदि का विशेष माहात्म्य है। पितामह ब्रह्मा ने पुष्कर में एक बार यज्ञ किया था। वह यज्ञ कार्तिक शुक्ला एकादशी से पूर्णिमा तक चला था। कार्तिक पूर्णिमा को ब्राह्मणों ने पुष्कर क्षेत्र में स्थित सभी कुण्डों की परिक्रमा कर गया कूप में स्नान किया था। यज्ञ पूरा होने पर पुष्कर पवित्र तीर्थ बन गया। पुष्कर में लगभग ४०० मन्दिर हैं जिनमें ब्रह्माजी का मन्दिर मुख्य है।

अजमेर

अजमेर में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह है जहाँ सालाना उर्स भरता है इसमें राष्ट्रीय ही नहीं अर्न्तराष्ट्रीय धर्म यात्री आते हैं। यह हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रतीक स्थल है। ख्वाजा मुइनुददीन चिश्ती का जन्म १३४१ ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम ख़्वाजा गयासद्दीन था और माता का नाम माहनूर था। १५ वर्ष की आयु में इन्हें हजरत इब्राहीम कंदो जी ने दीक्षा दी।

दीक्षा प्राप्त कर आप समरकंद और बुखारा गए जहाँ इन्होंने कई साल तक विद्याध्ययन किया। इसके बाद हज के लिए मदीना गए। हज के बाद मदीने से वह बगदाद गए। बगदाद में पाँच महीने और सात दिन रहे। तदनन्तर गजनी होते हुए भारत आए। लाहौर व दिल्ली में कुछ समय तक रहकर आप अजमेर पधारे। आनासागर के पास ठहरकर आप सूफी मत का प्रचार करने लगे। आपसी सद्भाव, एकता और प्रेम का सन्देश देने वाले ख्वाजा गरीब नवाज मुइनुद्दीन चिश्ती भारत में सूफी सम्प्रदाय की चिश्तिया शाखा के प्रथम प्रचारक थे। ९७ वर्ष की आयु में यह शरीर त्याग कर संसार से विदा हो गए। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गरीबों और मोहताजों को ख्वाजा भीख बाँटते हैं। उनकी कृपा से लोगों की नाकामियाँ कामयाबी में बदल जाती हैं। ख्वाजा सब पर समान रूप से कृपा करते हैं। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी उनकी कृपा के आकांक्षी रहते हैं। प्रकृति की तरह यहाँ कोई भेदभाव नहीं रहता।

गलियाकोट

डूँगरपुर जिले में सागवाड़ा तहसील का गलियाकोट एक छोटा-सा गाँव है। इसी गाँव के उत्तर में लगभग ६ किलोमीटर दूर एक फकीर का मजार है जो शिया सम्प्रदाय के बोहरा मुसलमानों का बड़ा धार्मिक स्थान है। इस स्थान पर फखरुद्दीन के नाशवान शरीर को दफनाया गया था।

फखरुद्दीन राजा सिद्धराज जयसिंह (जिन्होंने गुजरात पर १०९४ से ११३४ ई. तक राज्य किया था) के वजीर के लड़के थे। शिया सम्प्रदाय को बढ़ाने हेतु मिश्र से

इमाम-मुस्तेम-सीर ने मोलाई अहमद साहब और मोलाई याकूब साहब को भेजा, उन्होंने अपने धर्म को बढ़ाया। उन्होंने फिर मोलाई अहमद, मोलाई अब्दुला और मोलाई नूर मोहम्मद को यमन से खम्भात में भेजा। अब्दुल्ला साहब की काफी कीर्ति फैल गई।

ये लोग खम्भात से पाटन आए। गुजरात की राजधानी थी। अब्दुल्ला के चमत्कारों को देखकर राजा हैरान रह गया। सारा राज्य परिवार उनका शिष्य हो गया। तारमल और भारमल दोनों भाई भी इस सम्प्रदाय में शामिल हो गए। भारमल के लड़के याकूब को गुजरात में धर्म प्रसार का कार्य सौंपा गया। तारमल के लड़के फखरुद्दीन को बागड़ प्रान्त में भेजा गया।

फखरुद्दीन जब छोटे थे तभी से उनमें किसी महान् सन्त के लक्षण नजर आने लगे थे। वह खेल-कूद से अलग रहकर एकान्त में मनन किया करते थे। गरीबों की खिदमत करते थे, भूखों को खाना खिलाते थे, रोगियों को दवा देते थे। आगे चलकर उन्होंने धर्म की पूरी तालीम पाई। फलस्वरूप ये पहुँचे हुए फकीर हो गए। उनका स्वभाव धार्मिक तथा संन्यासी की तरह था। उन्होंने आत्मा की खोज में समय बिताया, साथ ही लोगों को चमत्कार भी बताये। इसी कारण उनकी मृत्यु-स्थल पर आगे चलकर गलियाकोट के नाम से दाउदी बोहरों का परमतीर्थ बन गया।

गलियाकोट बोहरा मुसलमानों का धार्मिक केन्द्र तो है ही, साथ ही ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान भी है। गलियाकोट में फखरुद्दीन की मजार है और शीतला माता का मन्दिर है। उस प्रकार गलियाकोट हिन्दू मुस्लिम वर्ग को अपनी अमृत धारा से सिंचित कर एकता को निखारता है।

ऋषभदेव

राजस्थान के दक्षिण भाग में उदयपुर से ६४ किलोमीटर दूर पहाड़ी उपत्यकाओं से घिरा हुआ, कोयल नामक छोटी-सी नदी पर स्थित, धुलेव नामक कस्बा है। भारत-भर में यही एक ऐसा मन्दिर है जहाँ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन, वैष्णव, शैव, भील एवं तमाम भक्तजन स्नान कर समान रूप से मूर्ति का पूजन करते हैं। प्रतिमा की महानता एवं प्रभाव क्षमता के कारण ही यह कस्बा धुलेव ऋषभदेव जी के नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति भारत के कोने-कोने से यहाँ दर्शनार्थ आते हैं।

अपनी कार्य सिद्धि की कामना से मनौती करने के लिए ऋषभदेव आने वालों की गणना करना कठिन है। जिनका आँगन सूना है, वे सन्तति की कामना से आते हैं। जिसका लाडला बेटा बीमार है उसकी माँ भगवान् के दर्शनार्थ आती है। मनौती करने वालों का प्रतिदिन मेला लगा रहता है।

जिनका कार्य सिद्ध हो जाता है, मानता छुड़ाने के लिए वे एकत्रित होते हैं। कोई दम्पती अपने बालक के बराबर केसर तोलकर भगवान् के चरणों में चढ़ाते हैं क्योंकि यह लाल उसी भगवान् का दिया तो है। कोई माँ भगवान् के दरबार में अपने बेटे का जडुन या (प्रथम बार बाल कटवाना) उतरवाती है क्योंकि उसी ने बच्चे की रक्षा की है। भीलों का दल

कारिया बाबा की जय बोलता हुआ मन्दिर में प्रवेश करता है क्योंकि उनके अनुसार उन्हें भगवान् ऋषभदेव ने ही जीने की कला सिखाई है। भगवान् सब का है, सब इसके हैं। भारत की भावात्मक एकता का विचित्र संगम स्थल है—ऋषभदेव।

ऋषभदेव जी की मूर्ति पर बहुत अधिक केसर चढ़ाई जाती है इस कारण यह केसिरया जी या केसरियानाथ जी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋषभदेव जी की प्रतिमा चमकते हुए काले पाषाण की है, अतः भील लोग इनको काला जी कहकर पुकारते हैं और इनके प्रति उनकी इतनी अधिक श्रद्धा और मान्यता है कि उन्हें काला जी की आण दिलाने पर वे अपने सत्य से किंचित् भी विचलित न होंगे। काला रंग इस बात का भी सूचक है कि भगवान् गुणातीत है। जिस प्रकार काले रंग के आगे अन्य सभी रंग अदृश्य हो जाते हैं उसी प्रकार भगवान् की शरण में जाने पर भक्त के सारे दोष दूर हो जाते हैं, वह निर्विकार हो जाता है। धुलेव ग्राम में स्थित होने के कारण इन्हें धुलेवा धणी भी कहा जाता है।

रामदेवरा

पश्चिमी धरा का पावन धाम रुणीचा अथवा राम देवरा जोधपुर के पोकरण नामक ग्राम से २१ किलोमीटर उत्तर दिशा में स्थित हैं। यह धाम जोधपुर पोकरण रेलमार्ग एवं बीकानेर-रामदेवरा मोटर मार्ग से जुड़ा हुआ है।

रुणीचा के निर्माता बाबा रामदेव जी तंवर का अविर्भाव १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। उस समय राजस्थान की दशा दयनीय थी। पश्चिमी राजस्थान के सातलमेर के कुख्यात भैरव का प्रबल उत्पात था। ऐसे समय ऊंडू कासमेर नामक गाँव के पास तंवर कुल श्रेष्ठ ऊजमल जी के घर माता मेणा देवी की कोख से बाबा रामदेव का जन्म हुआ।

बचपन में ही बाबा रामदेव को योगी बालीनाथ जी ने दीक्षा दी। बाबा राम देव ने भैरव से द्वन्द्व युद्ध किया। द्वन्द्व युद्ध में परास्त होकर भैरव बाबा रामदेव से प्राणों की भीख माँगने लगा। बाबा रामदेव ने भविष्य में अपकर्म न करने का वचन लेकर उसे अभयदान दिया तथा आगरों के पास की भूमि उसके विचरण के लिए निश्चित कर दी।

भैरव के उत्पीड़न का भय मिट जाने पर वर्षों से वीरान पड़ी भूमि कृषि फिर से लहलहाने लगी। सैकड़ों उजड़े-गाँव फिर से आबाद हो गए। बाबा रामदेव की ख्याति से आकर्षित होकर अमर कोट को सोढा दलैसिंह जी ने अपनी सुपुत्री नेतलदे का सम्बन्ध बाबा रामदेव के साथ कर दिया।

बाबा रामदेव ने अगला कार्यक्रम अछूतोधार का हाथ में लिया। मानव-मानव के बीच खड़ी दीवार को ढहाने के लिए बाबा रामदेव ने कामड़िया पंथ की स्थापना की। इस पंथ में दीक्षित व्यक्ति जाति-पाँति, ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन इत्यादि के कृत्रिम बन्धनों से मुक्त होकर सन्त हो जाता था।

बाबा रामदेव की समाधि स्थल पर वर्ष में दो बार—भाद्र पद शुक्ला १० तथा माघ शुक्ला १० को मेला लगता है। तेरहताली नृत्य इस मेले का प्रमुख आकर्षण है। इसे कामड़िया लोग प्रस्तुत करते हैं। इसमें एक कामड़िया स्त्री अपने शरीर के विभिन्न भागों

पर मजीरे बाँध लेती है तथा हाथ के मजीरे द्वारा विभिन्न मुद्राओं के साथ उन्हें बजाती है। अन्य पुरुष, तम्बूरा, हारमोनियम, खड़ताल, चिमटा व मजीरा के साथ ताल देते रहते है। ये लोग बाबा रामदेव जी की जीवनी से सम्बन्धित परिचयों का गायन करते हैं। बीच-बीच में बाबा रामदेव जी का जयजयरकार गूँजता रहता है।

शैव धर्म

राजस्थान में शिव पूजा का प्रचलन प्राचीनकाल से है। राजस्थान के शहर, कस्बा, गाँव या जंगल कहीं भी मन्दिर, देवालय या चबूतरा अवश्य मिल जाएगा जहाँ शिव लिंग स्थापित हो। मन्दिरों में जलहरी के बीच शिवलिंग, उसके साथ पार्वती, शिव का वाहन नन्दी और गणेश की मूर्ति होती है। शिवरात्रि पर विशेष पूजा की जाती है।

राजस्थान में शिव-भक्ति के अनेक मतमतान्तर पनपते रहे हैं जिनमें कापालिक और पाशुपत बहुत फैले। पाशुपत मत के प्रवर्त्तक दंडधारी लकुलीश थे। इस मत का सबसे प्रसिद्ध पीठ भगवान् एक लिंग नाथ के मन्दिर के साथ कैलाशपुरी मेवाड़ में है। कापालिक श्मशान वासी थे, चिता की भस्म रमाने वाले थे और अघोर तान्त्रिक थे। शिव भक्ति के माध्यम से जनता में आस्था जगाने का जो कार्य निरन्तर किया जाता रहा, वह भी प्रौढ़ शिक्षा का ही एक स्वरूप था।

शक्ति पूजा

शक्ति पूजा की परम्परा भी राजस्थान में बहुत पुरानी है। बाँसवाडा में त्रिपुर सुन्दरी का मन्दिर बहुत पुराना है। जयपुर के राजवंश की आराध्य शक्ति दुर्गा आमेर में शिला देवी के रूप में है। करौली में केलादेवी, जोधपुर में नागणेची, बीकानेर में करणी माता, सीकर की जीण माता, लोहार्गल की सिंकराय माता, ओसियां की पीपाड़ माता आदि ऐसी शक्तियाँ हैं जो लोक देवियों के रूप में मूलतः पूजी जाती रहीं किन्तु अब दुर्गा के रूप में पूजी जाती हैं।

माँ आदि शक्ति है अतः माँ के रूप में देवियों का पूजा जाना स्त्री के प्रति आदर का भाव व्यक्त करता है। समाज में महिलाओं के लिए आदर-भाव प्रदर्शित करने की प्रेरणा दी जाती रही है। शक्ति पूजा वास्तव में समाज को व्यवस्थित रखने के लिए प्रेरक शक्ति रही हैं जो प्रौढ़ शिक्षा की ही एक त्रिधि है।

वैष्णव धर्म

चौहदवीं सदी के बाद देश-भर में भक्ति आन्दोलन चला, उसके प्रभाव से राजस्थान में वैष्णव भक्ति की धारा इतनी प्रखर हो गई कि नगर-नगर में विभिन्न भक्ति सम्प्रदायानुयायी कृष्ण मन्दिर खड़े हो गए और वैष्णव भक्ति के अनुयायी बढ़ते गए।

रामानन्दी मत

वैष्णव धर्म का राजस्थान में बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। रामनुज मत की एक प्रमुख

गद्दी जयपुर में गलता नामक स्थान में थी। इसकी परम्परा अब तक वहाँ चल रही है और जयपुर बसने से पहले के अनेक मन्दिर अब भी वहाँ विद्यमान हैं।

इस वैष्णव मत का अनुसरण करने वाले रामानन्द (१४००-१४७०) ने उत्तर भारत में इसका प्रचार किया। रामानन्द की शिष्य परम्परा में जयपुर के पयहारी स्वामी थे जिन्होंने इस प्रदेश में नाथों का प्रभाव समाप्त करके रामानन्दी भक्ति परम्परा प्रवाहित की। उनके शिष्य अग्रदास जी (१६वीं सदी के मध्य) यहीं हुए। अग्रदास जी बाद में सीकर के पास रेवास नामक गाँव चले गए और वहाँ उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की जो आज तक चली आ रही है। अग्रदास जी राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास में राम की मधुर भक्ति के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इन्होंने राम-भक्ति पर अनेक हिन्दी काव्य लिखे।

गलता में १६वीं सदी में रामानन्द के एक शिष्य कील्हदास जी रहे जिन्होंने यहाँ के मन्दिरों में रामानन्दी भक्ति को सुदृढ़ किया। इस शाखा की यह विशेषता है कि यहाँ राम की भक्ति और पूजा रागात्मिका है जो माधुर्य लक्षण भक्ति के रूप में की जाती है। इसमें राम को एक रसिक नायक माना जाता है। जुगल सरकार (सीता व राम) की श्रृंगारिक जोड़ी पूजी जाती है। राम भक्ति की यह मधुर शाखा यहाँ की विशिष्ट देन है जिसमें राम-सीता की राम लीला आदि मधुर लीलाएँ जोड़ दी जाती हैं। राम-भक्ति की इस मधुर शाखा को सवाई राजा जयसिंह (१६९९-१७४३) ने भी प्रश्रम किया और अपने राजकवि श्री कृष्ण भट्ट कवि कलानिधि से रामरासा लिखवाया।

कृष्ण-भक्ति

राजस्थान में कृष्ण-भक्ति की परम्परा बहुत पुरानी है। चित्तौड़ के निकट घोसुंड़ी गाँव में द्वितीय शती ईसा पूर्व का एक शिलालेखा मिला है जिसमें संकर्षण वासुदेव की पूजा का उल्लेख है। जोधपुर के निकट मंडोर में भी गुप्तकालीन शिला फलकों में कृष्ण लीला चित्रित है। राजस्थान में ब्रज मण्डल का विशेष प्रभाव है। यहाँ के राजाओं ने वृन्दावन जैसे स्थानों पर कृष्ण मन्दिर बनवाये और कृष्ण-भक्ति के आचार्यों पर अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की।

वल्लभ सम्प्रदाय

मुगल सम्राट् औरंगजेब की हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों के विरोध की नीति के कारण मुगल साम्राज्य के सीधे आधिपत्य वाले नगरों से आचार्यों ने सुरक्षा की दृष्टि से अपनी मूर्तियों को हटाकर देशी रियासतों के राजाओं के संरक्षण में ले जाना श्रेयस्कर समझा।

वल्लभाचार्य के आराध्य श्रीनाथ जी का गिरिराज (गोवर्द्धन) से निकलकर ३० सितम्बर, १६६९ ई. को गोस्वामी दामोदर जी तथा उनके चाचा गोविन्द जी द्वारा राजस्थान लाना महत्वपूर्ण घटना था तथा १० फरवरी, १८७२ को सीहाड गाँव में उसका स्थापन करना था। तभी सीहाड गाँव श्रीनाथ द्वारा कहा जाने लगा और यह वल्लभाचार्य का प्रमुख पीठ हो गया।

इस सम्प्रदाय के इस प्रमुख पीठ के अतिरिक्त पुष्टिमार्ग के अन्य अनेक पीठ हैं जो

वल्लभाचार्य के पुत्र गुसाई विट्ठलदास (१५१५-१५५८ ई.) के उत्तराधिकारियों ने अपने-अपने आराध्य देव विग्रहों के नाम पर स्थापित किये। कोटा में मथुरेश जी का विग्रह है। श्रीनाथ द्वारा विट्ठनाथ जी का विग्रह है। श्रीनाथ द्वारा के निकट काँकरोली में द्वारिकाधीश जी का विग्रह है। काम वन में गोकुल चन्द्रमा जी और मदनमोहन जी के पीठ हैं।

राजस्थान में ४१ प्रमुख पुष्टिमार्गीय मन्दिर हैं। तीन-चार सदियों से इस भूमि पर बहने वाली इस भक्ति धारा ने यहाँ की संस्कृति को बहुत प्रभावित किया है तथा अनेक रूपों में ब्रज संस्कृति और रागानुगा भक्ति की छाप छोड़ी है। मन्दिर हवेली कहे जाते हैं जिनका संगीत हवेली संगीत के नाम से प्रसिद्ध है।

निम्बार्क सम्प्रदाय

कृष्ण भक्ति की धारा में निम्बार्क सम्प्रदाय का अपना एक विशेष महत्व है। इसका प्रमुख पीठ किशनगढ़ के पास सलेमाबाद में स्थित है। मुगल काल में अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति निम्बार्क सम्प्रदाय का भी प्रादुर्भाव वृन्दावन में हुआ। जहाँ हरि व्यास व्यास देवचार्या ने सम्प्रदाय के पीठों का सुनियोजित पुनर्गठन किया तथा अपने बारह शिष्यों को सम्प्रदाय के प्रसार का कार्य सौंपा।

इनके प्रमुख शिष्य परशुराम देवाचार्य थे जो जयपुर राज्य के अन्तर्गत नारनोल के समीप गौड़ ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। उन्होंने कुछ समय तक मथुरा के नारद टीला पर साधना की। तत्पश्चात् यह निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रमुख गद्दी राजस्थान में ले आए।

पुष्कर में कुछ चमत्कारी पीर लोगों को दिग्भ्रान्त करते थे। इन्होंने अपने योग बल से उनको परास्त किया एवं वहाँ इस वैष्णव पीठ को स्थापित किया। तब से (१६वीं सदी के आसपास) अजमेर के सलेमाबाद में यह प्रमुख पीठ स्थित है। परशुराम सागर आदि अनेक भक्ति ग्रन्थों में परशुराम जी ने राजस्थानी मिश्रित हिन्दी में काव्य रचना की और राजस्थान में इस सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। उदयपुर नगर में निम्बार्क पीठ है तथा जयपुर आदि अनेक नगरों में स्थान-स्थान पर इस सम्प्रदाय के राधा-कृष्ण के मन्दिर हैं।

इस सम्प्रदाय में राधा को कृष्ण की स्वकीया (परिणीता) माना जाता है और मुगल स्वरूप की मधुर सेवा की जाती है। जयपुर नरेश जगतसिंह ने संवत् १८५६ में सलेमाबाद में जाकर आचार्य जी का आशीर्वाद प्राप्त किया। फलतः राजकुमार जयसिंह का जन्म हुआ। अतः इस राजवंश ने उन्नीसवीं सदी में इस सम्प्रदाय को बहुत प्रश्रय दिया और अनेक मेले आयोजित किये। इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यकाल प्रौढ़ शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा। इस काल में भक्ति आन्दोलन प्रखरता के साथ आगे बढ़े और विकसित हुए। लोक जीवन में आस्था का संचार हिन्दुओं ने तो किया ही, मुस्लिम सन्तों ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया। फलतः दोनों धर्म एक-दूसरे के निकट आए। परस्परिक समन्वय हुआ और पारस्परिक आदर भाव भी बढ़ा।

१. मोती सिंह: निर्गुण साहित्य: सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि पृ. १२५-१२७

ब्रिटिश शासन काल का प्रारम्भ

ब्रिटिश शासनकाल प्रारम्भ हुआ। उस समय भारत में 34 प्रतिशत साक्षरता थी, इंग्लैण्ड में भी उस समय साक्षरता का यही प्रतिशत था। साक्षरता का प्रतिशत भारत में तब गिरा जब यहाँ अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बना दिया गया और संस्कृत, हिन्दी व राजस्थानी की शिक्षा देने वाली पाठशालाओं की मान्यता समाप्त कर दी गई। उर्दू, फारसी और अरबी की शिक्षा देने वाले मकतबों की भी पहले जैसी प्रतिष्ठा न रही।

ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भ में भारत की साक्षरता इंग्लैण्ड के समान होने का कारण यह था कि भारत के शासक अपनी प्रजा की शिक्षा पर ध्यान देते थे। इस यथार्थ को राजस्थान के मध्यकालीन शिक्षा केन्द्रों के आलोक में देखा जा सकता है।

राजस्थान में वैदिक कालीन परम्परा के अनुसार शिक्षा दी जाती थी जिसमें पढ़ने-लिखने के साथ-साथ धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान था ताकि विद्यार्थी अपने स्वयं के हित तो देखे ही, साथ ही अपने समाज एवं देश के प्रति भी भक्ति भाव रखे।

शिक्षा का प्रारम्भिक केन्द्र परिवार था जहाँ पिता अपने पुत्र को शिक्षा दिया करता था। पिता स्वयं अपने पुत्रों के लिए पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार किया करता था। व्यावसायिक क्षेत्र में भी पिता अपने पुत्र को वंशानुगत धन्धे की शिक्षा देता था ताकि वह अपने वंशानुगत धन्धे में दक्ष हो सके।

शिक्षा के लिए अन्य केन्द्र थे आश्रम जहाँ शिष्य गुरु के पास जाकर रहते थे और विद्यार्जन करते थे। एकलिंग माहात्म में इस प्रकार का वर्णन किया गया है कि एक सोम शर्मा नामक विद्वान् था जो अपने घर पर ही शिष्यों को विद्या का दान देता था। इसी ग्रन्थ में भृगु आश्रम का भी उल्लेख मिलता है। जोधपुर के महाराजा गजसिंह का पुत्र ही पढ़ा था।[१]

राजा-महाराजाओं ने कुछ ब्राह्मण-पण्डितों को इस प्रकार शिक्षा का कार्य करने के लिए आश्रमों की व्यवस्था हेतु गाँव भी दे रखे थे। ये आश्रम पढ़ने एवं पढ़ाने के केन्द्र बन जाते थे। जैनियों के उपासरे भी शिक्षा के केन्द्र थे जहाँ अधिकतर धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा दी जाती थी। इसी तरह मठ भी शिक्षा के केन्द्र थे। जयानक के वर्णन से ज्ञात होता है कि १२वीं शताब्दी के अन्त तक अजमेर के कोन-कोने में मठ या पाठशालाएँ थीं।[२]

उदयपुर का सर्वाना खेडा का मठ एवं जैसलमेर का कौशिक राम-मठ शिक्षा प्रचार के केन्द्र रूप में प्रसिद्ध थे। राज्य में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए कुछ स्थानीय संस्थाओं के द्वारा शिक्षा का कार्य किया जाता था। इन स्थानों के लिए पाठशाला, पोसाल, नेसाल, चोर्का आदि नामों का प्रयोग किया जाता था। सोमकवि ने राणकपुर में तथा मान कवि ने राजनगर

में इस प्रकार की पाठशाला का वर्णन किया है।

महाविद्यालय स्तर की शिक्षा का बड़ा केन्द्र चौहान शासकों के काल में अजमेर था। विग्रहराज चतुर्थ ने यहाँ सरस्वती मन्दिर की स्थापना की थी जिसे कुतुबुद्दीन ऐवक ने तोक़र मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया। जैन ग्रन्थों से पता चला है कि उस समय चित्तौड़ भी शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इसी तरह भनिमाल ब्राह्मणी शिक्षा का बड़ा केन्द्र था और आबू तांत्रिक शिक्षा का केन्द्र था।[3]

मुस्लिम शिक्षा के सन्दर्भ में दरगाह रिकार्ड्स के आधार पर अ. गोपीनाथ शर्मा ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि मुस्लिम शिक्षा के लिए भी राजस्थान में एक व्यवस्था थी। उदाहरण के लिए अजमेर में ख्वाजा साहब की दरगाह शरीफ के खादिमों के बच्चों के लिए एक 'मकतब' खोला गया था जहाँ एक मौलवी रहता था जो बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाने के साथ-साथ कुरान शरीफ भी पढ़ाता था। उच्च शिक्षा के लिए 'मरदसा' होता था। बच्चों को उर्दू, अरबी एवं फारसी भाषा सिखाई जाती थी तथा कुछ गणित का ज्ञान भी कराया जाता था।

मध्यकालीन शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकालय का बहुत बड़ा योगदान रहा है। अच्छी पुस्तकों के बिना शिक्षा की प्रगति के लिए आशा करना दुराशा मात्र सिद्ध होता है। मध्यकाल में राजस्थान में पुस्तकालयों की समुचित व्यवस्था देखने को मिलती है। इसीलिए राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों का विशाल भण्डार है। उन ग्रन्थों को बस्तों को बण्डलों में बाँधकर रखा जाता था। राज दरबारों, मढों, उपासकों, सामन्तों या सेठों के निजी संग्रहों में इन ग्रन्थों को रखा जाता था।

ब्रिटिश शासन के द्वारा शिक्षा की इस प्रचलित व्यवस्था को देखा गया और भारत की जनता में व्याप्त साक्षरता के प्रतिशत का अवलोकन किया गया। इस सर्वेक्षण में इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि राज्यों की ओर से भले ही शिक्षा पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता किन्तु जन-सहयोग से शिक्षा के स्तर को बनाये रखा जाता है।

शासन की ओर से शिक्षा के पारम्परिक स्वरूप को निर्धारित करने के नाम पर शिक्षा प्रणाली व्यवस्थित की गई। १८३५ ई. में अंग्रेजी भाषा को राजकीय भाषा के रूप में घोषित कर दिया गया। अतः अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का महत्व बढ़ गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रशासन द्वारा जगह-जगह स्कूल खोले गए। अजमेर, पुष्कर, श्रीनाथ एवं केकड़ी में पहले स्कूल खोले गए। इन स्कूलों में ईसाई धर्म की शिक्षा को प्रधानता दी जाती थी और बाइबल की कहानियों के माध्यम से शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता था। फलतः जनता के विरोध का इन स्कूलों को सामना करना पड़ा।

जनता में यह आशंका व्याप्त हो गई थी कि इन स्कूलों में ईसाई धर्म की शिक्षा के द्वारा बच्चों को ईसाई बनाया जाएगा। यह आंशका बढ़ती गई। अंग्रेजी सरकार के प्रति उभरते और बढ़ते सन्देह को ईसाई शिक्षा को आरम्भ करने वाले पादरी केरी ने भी अनुभव किया था। उसने अजमेर-मेरवाड़ के सुपरिटेण्डेण्ट को लिखा कि लोगों को शंका है कि

कहीं उनके बच्चों को कलकत्ता ले जाकर ईसाई धर्म की दीक्षा न दिला दें।[४] स्थानीय जनता के असहयोग के कारण इन स्कूलों को बन्द करना पड़ा।

१८४२ ई. में पण्डित रूप नारायण की सहायता से अलवर में एक स्कूल स्थापित किया गया। कालूराम शर्मा के अनुसार राजस्थान के राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत का पहला प्रयत्न अलवर के महाराजा बन्नेसिंह ने किया। बन्नेसिंह ने शिक्षा के क्षेत्र में काफी रुचि प्रदर्शित की। उसने छात्रवृत्तियाँ देने एवं पुस्तकें खरीदने के लिए पर्याप्त धन दिया।

१८४२ ई. में ही भरतपुर में भी एक अंग्रेजी स्कूल खोला गया। १८४४ ई. में जयपुर में महाराजा स्कूल खोला गया।

अंग्रेजी स्कूलों के कारण जो वातावरण बन रहा था उससे पाठशालाओं और मदरसों का महत्व कम होता गया, फलतः इन संस्थाओं में अध्यापन कार्य करने वाले मौलवी और पण्डित घर-घर जाकर अनौपचारिक शिक्षा के कार्य में लीन हो गए। साथ ही जनता में अंग्रेजों के और अंग्रेजी शिक्षा के बारे में जानकारी देने लगे।

अंग्रेजों द्वारा इस स्थिति को भली प्रकार समझा गया और इसके साथ ही यह अनुभव किया गया कि यदि राजस्थान में अंग्रेजी राज्य की जड़ों को मजबूत बनाना है तो राजपूत शासकों, राजकुमारों तथा सामन्त पुत्रों की शिक्षा हेतु विशेष व्यवस्था करनी होगी। वे अच्छी तरह जानते थे कि राजपूत लोग शिक्षा प्राप्त करने तथा किसी प्रकार की कला सीखने को अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध मानते हैं। साथ ही अपने पुत्रों को अपने से निम्न स्तर की जातियों के लड़कों के साथ पढ़ाने को तैयार नहीं हैं। इसलिए अंग्रेजी अधिकारियों ने सामन्त पुत्रों की शिक्षा हेतु विशेष स्कूल खोलने का निश्चय किया। इसी निश्चय के अनुरूप जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर एवं अलवर के नरेशों को प्रेरित कर सामन्त पुत्रों की शिक्षा हेतु विशेष स्कूल खोलने की व्यवस्था की।

इतना ही नहीं राजस्थान नरेशों को अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए भी अंग्रेजों द्वारा सशक्त प्रयास किये गए। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपने विश्वसनीय शिक्षकों को नियुक्त किया जैसे भरतपुर के शासक बलवन्तसिंह की शिक्षा हेतु पॉलिटीकल एजेन्ट को नियुक्त किया, जयपुर महाराजा रामसिंह के लिए पं. शिवदीन को शिक्षक नियुक्त किया। इसी प्रकार उदयपुर के शम्भूसिंह एवं सज्जनसिंह, अलवर के शिवदान सिंह, भरतपुर के जसवन्त सिंह के लिए विशेष शिक्षकों की नियुक्ति की गई।[५]

स्त्री शिक्षा के लिए भी अंग्रेजी द्वारा प्रयास किए गये किन्तु राजस्थान की जनता में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के प्रति कोई उत्साह न था। जन-सामान्य की रुचि न होने के कारण स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति की कोई संभावना नहीं थी। मध्यकाल में ही मुस्लिम शासन काल संघर्ष का काल था, अतः स्त्री शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया गया था। स्त्रियाँ शिक्षा के प्रति उदासीन थी।

मध्यकाल में स्त्रियों के शील की रक्षा के दृष्टिकोण से बाल-विवाह की प्रथा का

प्रचलन हो गया था। यह विवाह प्रथा अंग्रेजों के शासनकाल में और अधिक व्यापक हो चुकी थी। बाल्यावस्था में विवाह हो जाने के कारण बालिकाओं के पढ़ने-लिखने की ओर प्रवृत्त होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। उन्हें घर-गृहस्थी के कार्यों में प्रवृत्त किया जाता था।

समाज में स्त्रियों को शिक्षा के प्रति विशेष उत्साह न था इसलिए माता-पिता बलिकाओं को पढ़ाने-लिखाने में रुचि न लेते थे। माता-पिता यदि रुचि लेते भी थे तो उस समय समाज में योग्य अध्यापिकाओं का अभाव था जो बालिकाओं को पढ़ाने के लिए समय दे सकें। उन्हें योग्य बनाने में रुचि ले सकें।

स्त्रियों में शिक्षा के अभाव का सबसे महत्वपूर्ण कारण स्त्री-शिक्षा के प्रति सार्वजनिक रुचि का अभाव था। उन्हें करना तो गृहस्थी का कार्य ही है जिसके लिए पढ़ने-लिखने की आवश्यकता वे अनुभव नहीं करते थे।

उस समय स्त्रियों में पर्दे की प्रथा थी। घर के बाहर का वातावरण उनके लिये जैसे वर्जित था। घर से बाहर स्त्रियाँ बहुत कम निकलती थीं। निकलती भी थीं तो मुख पर घूँघट का आवरण डालकर। वस्त्र इस प्रकार पहनती थीं कि शरीर का कोई भी अंग दिखाई न दे।

समाज में अशान्ति व्याप्त थी। रियासती शासन प्रणाली होते हुए भी अंग्रेजी का अकुंश था और दोनों के बीच कूटनीतिक दाँव-पेंच चलते ही रहते थे। इस कारण लोग समझते थे स्त्रियों का घर से बाहर जाना निरापद नहीं है। इसलिए लड़कियों के अभिभावक उन्हें स्कूल भेजने के लिए तैयार न होते थे। स्कूल ही नहीं लड़कियों को घर से बाहर कहीं भी भेजने को तैयार न होते थे।

१८५७ का वर्ष

१८५७ में सारा देश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का विरोध करने के लिए उठकर खड़ा हो गया। राजस्थान भी उससे अधूता न रहा। राजस्थान में शिक्षा का काम करने वाले लोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हो जाने के बाद से लगातार अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध वातावरण बनाने में लगे रहे। उन्होंने शिक्षा का कार्य करना एक प्रकार से बन्द कर दिया था।

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का विरोध करने के स्थान पर शिक्षा का कार्य करने वालों को रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए था। वे हिन्दी, राजस्थानी, संस्कृत अथवा जिस भाषा में चाहते, अध्यापन कार्य करते और शिक्षा के द्वारा जनता को जागृत करते तो अपने उद्देश्य में अधिक सफल हो सकते थे लेकिन नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने के कारण जनता को निरक्षरता के अन्धकार में ढकेलने का कार्य उन्होंने परोक्ष रूप से किया।

अंग्रेजी शासन के विरुद्ध वातावरण बनाने का प्रयत्न भी किया गया। सारे देश में जो हवा चली, वह रोटी और कलम के माध्यम से राजस्थान में भी प्रयास किया गया किन्तु देश के इस प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम में राजस्थान का अपेक्षित योगदान न रहा। इसमें सन्देह नहीं कि यदि राजस्थान ने भी उस समय सक्रियता से योगदान किया होता तो अंग्रेजों का भारत

में टिकना असंभव हो जाता।

राजस्थान सहयोग करता भी तो कैसे ? स्वतन्त्रता-संग्राम का नेता बहादुर शाह जफर को बनाया गया जो मुगल वंश का अन्तिम सम्राट् कहा गया। मुगलों के साथ राजस्थान के अधिकतर राजाओं के सम्बन्ध अच्छे न रहे थे इसलिये उनका साथ देने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

१८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम में द्वितीय पंक्ति के नेता नानाजी हों, ताँत्या टोपे हो अथवा झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, सब-के-सब मराठे थे। मराठी सेनाओं का राजस्थान के राजाओं को बड़ा कटु अनुभव था। अपनी ग्मृद्धि के समय मराठी सेनाओं ने राजस्थान की रियासतों को जी-भरकर लूटा था।

राजस्थान की जनता ने भी मराठी सेनाओं की लूट-मार वाली प्रवृत्ति के कारण भारी हानि को सहन किया था। घरों को बर्बाद होते देखा था। सम्पत्ति को उजड़ते देखा था। मराठों के द्वारा रियासतों के राजमहलों की महिलाओं के आभूषण लूटे जाने का दृश्य देखा था। यहाँ तक कि हिन्दू पद पादशाही का नाम लेने वालों के द्वारा नाथद्वारा के श्रीनाथ जी का मन्दिर तक को लूटा जाते देखा था। इसलिए मराठों के साथ न तो राजाओं की सहानुभूति थी, न जनता ही मराठों का साथ देना चाहती थी। राजस्थान में जनता का सहयोग पाने के लिए ताँत्या टोपे ही बार-बार आता रहा।

राजस्थान में अंग्रेजों ने अपने को सुरक्षित अनुभव किया और राजस्थान के स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग न लेने का कारण उन्होंने यह माना कि राजाओं, राजकुमारों, सामन्त पुत्रों पर अंग्रेजी शिक्षा ने ऐसा प्रभाव अंकित किया है जिसके कारण वे १८५७ के संग्राम में तटस्थ बने रहे ाजस्थान में कहीं-कहीं छुट-पुट घटनाएँ अवश्य घटीं जिन पर शीघ्र ही काबू पा लिया गया और नियन्त्रण स्थापित करने में रियासती राजाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

१८५७ की घटनाओं से उत्साहित होकर अंग्रेजों ने राजस्थान में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली को प्रभावशाली ढंग से लागू करने का अभियान चलाया। १८६१ में अजमेर में एक विद्यालय को उच्च माध्यामिक परीक्षा हेतु कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया। १८६८ में इसे इण्टरमीडिएट कॉलेज बना दिया गया और १८६९ में इसे डिग्री कॉलेज बना दिया गया।

१८४४ ई. में जयपुर में महाराजा स्कूल खोला गया था। १८४७ ई. में पहली बार यहाँ आधुनिक शिक्षा प्रणाली लागू की गई थी। १८७३ में इसे महाराजा कॉलेज बना दिया गया। जोधपुर में १८६७ में जनता के सहयोग से स्कूल खोला गया। दो वर्ष बाद इसे सरकारी नियन्त्रण में ले लिया गया। इसका नाम दरबार स्कूल रख दिया गया। धीरे-धीरे कई स्कूल बने और १८९३ ई. में यह जसवन्त कॉलेज बना जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध किया गया।

उदयपुर में महाराणा शंभूसिंह के समय शंभूरत्न पाठशाला की स्थापना की गई जहाँ हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंग्रेजी की पढाई होती थी। महाराणा सज्जनसिंह ने इसे

१८८५ ई. में हाई स्कूल बनाकर महाराणा हाईस्कूल नाम रखा तथा यह स्कूल इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध किया गया।

महाराणा फतहसिंह के समय में इसे इण्टरमीडिएट कॉलेज बना दिया गया।[६] बूँदी में वहाँ के शासक रामसिंह ने तथा झालावाड़ में पृथ्वीसिंह ने अंग्रेजी शिक्षा के स्कूल खोले। १८७७ में बीकानेर में तथा १८९० ई. में जैसलमेर में स्कूल खोला गया। १९वीं शताब्दी में अन्त तक डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रातपगढ़ में भी अंग्रेजी शिक्षा के स्कूल खोले गये।[७]

अंग्रेजों ने राजस्थानी नरेशों का और अधिक विश्वास प्राप्त करने के लिए मेयो कॉलेज खोलने का निश्चय किया। तदर्थ १८७० ई.में अजमेर में एक विशिष्ट दरबार लगा। उसी में लॉर्ड मेयो ने राजस्थानी शासकों एवं सामन्त सरदारों की शिक्षा हेतु एक विशेष कॉलेज खोलने की बात रखी जिसे राजस्थानी शासकों ने स्वीकार करते हुए इसके निर्माण हेतु चन्दा भी दिया। अतः १८८५ ई. में मेयो कॉलेज खोला गया।[८]

प्रौढ़ शिक्षा की दृष्टि से अन्धकार का काल

उन्नीसवीं शताब्दी का काल राजस्थान के लिए प्रौढ़ शिक्षा की दृष्टि से निराशा और अन्धकार का काल था। इस समय मराठों के रोज-रोज लूटमार के कारण घबराकर राजस्थान की रियासतों ने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ समझौता कर लिया और स्वयं को सुरक्षित अनुभव किया।

मराठों की लूटपाट के समय जन-सामान्य में शिक्षा के प्रचार-प्रसार का कार्य सुचारु रूप से चलाये जाने की कल्पना की ही नहीं जा सकती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के साथ जन-मानस की सहानुभूति का न होना शिक्षा के अभाव का कारण बना।

१८५७ के बाद ब्रिटिश शासन द्वारा उत्साहपूर्वक सारे राजस्थान में अंग्रेजी स्कूल खोले गए और उनमें हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, संस्कृत आदि की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। साथ ही तकनीकी व दस्तकारी की शिक्षा के लिए भी व्यवस्था की गई लेकिन जनता का ध्यान शिक्षा के प्रति फिर भी आकर्षित न हुआ।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में राजस्थान को अकाल और महामारी का सामना करना पड़ा। फलतः अनेक स्कूल बन्द हो गए। जन-सामान्य को भूख और मृत्यु का सामना करना पड़ा। अभावों ने जनता की स्थिति विषम कर दी। १९०५ में उपलब्ध संख्या के अनुसार यद्यपि राजस्थान में ६४७ नये आधुनिक स्कूल खोले गए थे फिर भी निरक्षरता सारे प्रदेश में व्याप्त थी। सबसे अधिक साक्षर लोग सिरोही की छोटी रियासत में थे जहाँ केवल १२.४ प्रतिशत लोग साक्षर थे। स्त्रियों में शिक्षा का उस समय प्रतिशत नगण्य था।

---

१. गोपीनाथ शर्मा : सो. ला. इ. मे. रा., पृ. २६८

२. दशरथ शर्मा : अर्ली चौहान अडानेस्टीज, पृ. २९०

३. अ. जे. के. ओझा : राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. ९४

४. कालूराम शर्मा : उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. १३६-१३७
५. ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ., ७८७-८०९
६. ओझा : उदयपुर का इतिहास, भाग १, पृ., १६-१७
७. कालूराम शर्मा : उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं अर्थिक जीवन, पृ. १३८-१४२
८. वहीं, पृ. १४४-१४६

नव जागरण काल

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में राजस्थान के जागने का क्रम शुरू हो गया था। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती का राजस्थान भ्रमण महत्वपूर्ण माना जाता है। स्वामी जी उदयपुर १८८२ में आकर सात महीने तक रहे थे। उनके प्रवचनों में जो बातें कही गई थीं उनका प्रभाव जन-जीवन पर बहुत पड़ा था। जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि और उत्तम होता है।

स्वामी जी ने शाहपुरा व जोधपुर का भी भ्रमण किया था। वास्तविकता यह है कि स्वामी दयानन्द के द्वारा राष्ट्रीय गौरव भावना को पुनःजागृत करने का प्रयत्न इतिहास की एक बड़ी घटना है। मेवाड़ में १८८७ में आर्यसमाज की स्थापना की गई। आर्यसमाज के द्वारा शिक्षा के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति का प्रचार-प्रसार किया गया।

यह समय था जब यह अनुभव किया जाने लगा था कि स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना है तो भारतीय राष्ट्रीयता के जागरण की आवश्यकता को अनुभव करना ही होगा और यह प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से ही संभव हो सकता है। मेवाड़ का बिजौलिया आन्दोलन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

बिजौलिया में किसानों का आन्दोलन १८९७ में प्रारम्भ हुआ। १८९९ में दुर्भिक्ष ने किसानों को इतना दीन-हीन बना दिया कि आन्दोलन का रास्ता अपने-आप छूट गया क्योंकि इस वर्ष हैजा एक महामारी के रूप में फैला जिसने किसानों को निम्नतम स्तर का जीवन व्यतीत करने को विवश कर दिया।[१]

१९०० के दुर्भिक्ष से किसान संभल भी नहीं पाये थे कि १९०३ में बिजौलिया में एक नया चॅबरी लगा दिया गया। इस अमानवीय कर से पीड़ित होकर किसान राव कृष्णसिंह से मिले तथा उनसे इस कर को समाप्त करने के लिए अनुनय विनय की। राव ने उनकी बात नहीं मानी। इस पर किसानों ने विरोध स्वरूप जमीन को जोतना छोड़ दिया तथा वे समीपवर्ती क्षेत्रों में चले गए। इस निर्वसन का परिणाम यह हुआ कि राव को चँवरी के साथ अनेक अन्य बेगारों को भी समाप्त करना पड़ा तथा किसानों ने उन्हें भूमि परती न छोड़ने का वचन दिया।[२]

विजय सिंह पथिक १९१५ में जब बिजौलिया पहुँचे उस समय किसानों में सहयोग का अभाव था। विजय सिंह पथिक ने अनुभव किया जब तक किसान अपने उद्देश्य के प्रति पूरी तरह समर्पित न होंगे तब तक संगठन सुदृढ़ नहीं होगा। इसके लिए उनके सामने लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। उनका मत सुदृढ़ होना चाहिए। विचारधारा में दृढ़ता शिक्षा के द्वारा ही आ सकती है।

बिजौलिया में विजयसिंह पथिक ने विद्या प्रचारिणी सभा की स्थापना की जिसके

माध्यम से एक पुस्तकालय, पाठशाला व अखाड़े को भी विकसित किया।[३]

वे दिन में पाठशाला में विद्यार्थियों को राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत शिक्षा देते थे। रात्रि में किसानों से भेंट करते और प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से उनका ज्ञान विकसित करते। इस माध्यम से गाँव-गाँव घर-घर किसानों से सम्पर्क करते थे।

सन् १९१६ ई. में मेवाड़ रेजिडेन्ट बिजौलिया के आगमन के अवसर पर बेगार करते समय गिरधारी कुम्हार की मृत्यु हो गई थी। इसी क्रम में १९१७ में बिजौलिया राव की माता राणावत जी को छोड़ना धूणा की माता जी के दर्शन हेतु जाना था जिसमें किसानों को १५ दिन की बेगार करनी थी, अतः किसानों ने जब इस बेगार का प्रतिरोध किया तो मार-पीट कर बेगार के लिए विवश किया गया। परिणामस्वरूप बेगार से लौटने पर ३०० किसानों ने बेगार न देने की प्रतिज्ञा की।[४]

दृढ़ प्रतिज्ञ होने के पश्चात् भी किसान नेतृत्व के अभाव में दिशाहीन और असफल ही रहे। इस कमी को आने वाले वर्षों में विजयसिंह पथिक ने प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से पूरा किया। उन्होंने ऐसे कार्यकर्त्ताओं का निर्माण किया जो उनकी अनुपस्थिति में भी नेतृत्व का सफलतापूर्वक संचालन कर सकें।

प्रौढ़ शिक्षा द्वारा किसानों में अभूत पूर्व जागृति उत्पन्न की गई जिससे आन्दोलन का वातावरण बना। सन् १९१७ ई. में हरियाली अमावस्या के दिन ऊपर माल पंच बोर्ड के नाम से एक शक्तिशाली संगठन स्थापित किया गया जिसके द्वारा क्रान्ति का बिगुल बजाया गया। मन्ना पटेल को पंचायत का सरपंच बनाया गया।

हरियाली अमावस सुखद शुभ मुहूर्त को जान लो।
स्वतन्त्रता के हित अब धर्म युद्ध को ठान लो।।[५]

बिजौलिया किसान आन्दोलन का भारतवर्ष के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में विशेष महत्व है क्योंकि यह भारतवर्ष का प्रथम अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलन था जिसकी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। मेवाड़ के तत्कालीन रेजिडेन्ट ने इसे बोल्शेविक क्रान्ति की संज्ञा दी थी।[६] इस आन्दोलन को सशक्त बनाने एवं उसे सफलता के शिखर तक पहुँचने में विजयसिंह पथिक का महत्वपूर्ण योगदान है किन्तु उतना ही मूल्यवान योगदान प्रौढ़ शिक्षा का भी रहा जिसके माध्यम से जन-जागरण किया गया। किसानों को संगठित बनाये रखा गया। ऐसे कार्यकर्ताओं का निर्माण किया गया जिन्होंने आन्दोलन को सफल बनाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

प्रताप सभा

प्रातः स्मणीय महाराणा प्रताप का नाम स्वतन्त्रता आन्दोलन के वातावरण में मन्त्र के समान उत्प्रेरक रहा है। सन् १९१५ ई. में उदयपुर में प्रताप सभा की स्थापना की गई। इस सभा का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार विकास करना था जिसमें स्वतन्त्रता के मूलभूत विचार हों और प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी बने। इसके लिए प्रताप पुस्तकालय की स्थापना

की गई। राष्ट्रीय भावना को जागृत करने के लिए राजस्थानी साहित्य, वीरोचित साहित्य आदि प्रकाशित कर समय समय पर वितरित कराया गया।[९]

राजस्थान महिला विद्यालय

नारी जागरण की ओर महिला शिक्षा को अग्रसर करने का दायित्व निभाने की दृष्टि से श्री भेरूलाल गेलड़ा ने १९१६ ई. में एक कन्या पाठशाला की स्थापना की। समाज में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करने का लक्ष्य लेकर इस कन्या पाठशाला का शुभारम्भ किया गया।

इस संस्था के द्वारा महिलाओं में शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया गया। उनमें आत्म विश्वास जागृत किया गया। आत्म-निर्भरता की ओर अग्रसर होने की क्षमता प्रदान की गयी। महिलाओं में व्याप्त कुरीतियों एवं कुण्ठाग्रस्त रूढ़ियों के विरुद्ध चैतन्य जागृत किया गया जिससे कि एक स्वस्थ, सशक्त और समृद्ध समाज के निर्माण का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके।

विद्या विभाग

१९२८ ई. में कांकरोली के साहित्यकारों द्वारा एक शिक्षण संस्था 'विद्या विभाग' की स्थापना की गई जिसका लक्ष्य साहित्यिक एवं शैक्षणिक प्रवृत्तियों द्वारा राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत जन-चेतना जागृत करना था और युवा वर्ग को देश की गतिविधियों से परिचित कराना एवं जन-जीवन में राष्ट्र-प्रेम के बीज बपन करना था। इसके द्वारा समय-समय पर साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन किया गया एवं सान्ध्यकालीन शिक्षण केन्द्र चलाये जाते थे जिनमें युवकों और प्रौढ़ों को देश व राज्य में घटने वाली घटनाओं की जानकारी दी जाती थी तथा स्थानीय समस्याओं पर विचार किया जाता था।[८]

श्री गरुकुल

चित्तोडगढ़ में श्री गुरुकुल की स्थापना १९२९ ई. में की गई थी।[२] आर्य-समाज का आन्दोलन मौलिक रूप से धार्मिक क्रान्ति का स्वरूप था किन्तु जगह-जगह आर्य समाज द्वारा शिक्षण संस्थाए खोली गई जिसके माध्यम से समाज को आर्यसमाज की विचारधारा से परिचित कराना उसका लक्ष्य था। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज देश में स्वधर्म, स्वदेशी भाषा और स्वदेशी संस्कृति अपनाने पर बल दे रहा था। आर्यसमाज की उसी लहर में स्थापित श्री गुरुकुल का लक्ष्य देश और धर्म की सेवा में तन मन धन एवं सर्वस्व लगाने वाले उत्तम कोटि के स्नातक तैयार करना था।

महिला मण्डल

१० नवम्बर, १९३५ को उदयपुर में श्री दयाशंकर श्रोत्रिय द्वारा महिला मण्डल स्थापित किया गया। यह संस्था नारी जागरण का सशक्त आधार प्रस्तुत करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र सिद्ध हुआ है। महिला मण्डल द्वारा महिलाओं के अनेक प्रौढ़ शिक्षा

केन्द्र खोले गए जिनके माध्यम से पर्दा प्रथा, रूढ़िवादिता, अशिक्षा एवं अस्पृश्यता आदि के उन्मूलन में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ अर्जित की गईं। महिला मण्डल द्वारा अनाथ स्त्रियों की सुरक्षा व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया गया।

स्वतन्त्रता सेनानी श्री दयाशंकर क्षेत्रिय महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने के पक्षधर थे। इसीलिए उन्होंने महिला मण्डल को इस प्रकार विकसित किया कि महिलाएँ उद्योगों का प्रशिक्षण लेकर उनमें सक्रियता के साथ संलग्न हों और आत्म-निर्भर बनें।

महिला मण्डल द्वारा महिलाओं को घरेलू एवं कुटीर उद्योगों का प्रशिक्षण देने का क्रम आरम्भ किया गया। उद्योग धन्धों के प्रशिक्षण के साथ-साथ उन्हें धन्धे में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी गई एवं उनके द्वारा तैयार माल की बिक्री की समुचित व्यवस्था कर उन्हें प्रोत्साहित किया गया।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने महिला मण्डल को आशीर्वाद दिया था—राजस्थान को आगे बढ़ाओ। स्वयं सेविकाएँ तैयार करो. ऐसे शुभ कार्य में मेरा आशीर्वाद है।[९]

साहित्य मण्डल नाथद्वारा

१९३७ ई. में नाथद्वारा में साहित्य मण्डल की स्थापना की गई। केन्द्रीय पुस्तकालय, बाल पुस्तकालय एवं चल पुस्तकालय द्वारा नवसाक्षरों के शिक्षा क्रम को निरन्तरित करने की व्यवस्था की गई। प्राचीन साहित्य शोध, हिन्दी साहित्य सम्मेलन परीक्षा केन्द्र एवं साहित्य विद्यालय और स्वाध्याय मण्डल के माध्यम से इस संस्था के द्वारा साहित्यिक गतिविधियों का व्यापक प्रचार किया गया। रंगमंच एवं स्वाध्याय गोष्ठियों का आयोजन कर शिक्षा का प्रसार किया गया।[१०]

विद्या भवन

१९३१ई. में विद्या भवन प्राथमिक विद्यालय के रूप में यह संस्था प्रारम्भ की गई।[११] जनता में भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम जागृत करने के कारण इस संस्था की अति प्रतिष्ठा रही। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान के कारण यह संस्था निरन्तर विकसित होती गई। आज तो प्राथमिक, उच्च माध्यमिक विद्यालय, शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, कला संस्थान एवं रूरल इन्स्टीट्यूट, सेवा मन्दिर आदि अनेक शिक्षण संस्थाओं के साथ इसकी सम्बद्धता है।

राजस्थान विद्यापीठ

२१ अगस्त, १९३७ ई. को पं. जनार्दन राय नागर द्वारा हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की गई। इसका लक्ष्य राष्ट्र भाषा हिन्दी के माध्यम से शिक्षण दीक्षण देकर जन सामान्य को राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत करना था। राष्ट्रीय जागरण का लक्ष्य लेकर विद्यापीठ द्वारा सृजनात्मक और रचनात्मक प्रयास किये गए।[१२]

राजस्थान विद्यापीठ में रात्रि में प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाएँ चलायी गईं जिनमें दुकानों में तथा होटलों में काम करने वाले किशोर पढ़ने आते थे। कारखानों में काम करने वाले

मजदूरों को जहाँ शिक्षा दी जाती थी। खेतों में काम करने वाले किसानों और खेतिहर मजदूरों को शिक्षा दी जाती थी।

राजस्थान विद्यापीठ द्वारा अनपढ़ जनता को शिक्षित करने के लिए विभिन्न प्रवृत्तियाँ संचालित की गईं। ग्रामीण जनता को शिक्षित करने के लिए जहाँ गाँव-गाँव प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र स्थापित किये गए वहीं शहरी जनता को शिक्षित करने के लिये भी सशक्त प्रयास किये गए।

राजस्थान विद्यापीठ द्वारा चलाये जा रहे प्रौढ़ शिक्षा के व्यापक कार्यक्रमों को देखकर ही तत्कालीन महाराणा भूपाल सिंह इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उनके द्वारा २१ अगस्त, १९४८ को इसे लोक शिक्षण का विश्वविद्यालय घोषित किया गया। इसका नाम भी उस समय राजस्थान विश्वविद्यापीठ कर दिया गया।

राजनैतिक परिस्थितियों की विवशता ने राजस्थान विद्यापीठ को विश्वविद्यालय के रूप में चलाने की स्वीकृति न दी किन्तु राजस्थान विद्यापीठ के कार्यकर्त्ताओं की तपस्या के अनवरत क्रम को अन्ततः सफलता मिली ही। जनवरी १९८७ ई. में राजस्थान विद्यापीठ को विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो ही गयी।

स्वावलम्बी शिक्षण कुटीर की स्थापना सन् १९४२ की क्रान्ति के समय मेवाड़ के जननायक श्री माणिक्य लाल वर्मा के सानिध्य में कपासन में हुई। आरम्भ से ही बाल मन्दिर, किसान मजदूर रात्रि शाला, लोक मंच आदि विभिन्न प्रवृतियाँ इस संस्था द्वारा संचालित की गईं।

सन् ४५ से कुटीर को कांकरोली में स्थानान्तरित कर दिया गया। शिक्षण कुटीर का लक्ष्य समाज के लोगों को पूर्ण साक्षर एवं स्वावलम्बी बनाना था। इस संस्था के द्वारा बाल-बालिकाओं को शिक्षा प्रदान करने के अतिरिक्त जनता को देश की समयानुकूल परिवर्तित परिस्थितियों का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता रहा है। साथ ही सामयिक पर्व, जयन्तियाँ आदि मनाने के आयोजन इसके द्वारा किये जाते रहे हैं।[१४]

राजस्थान में ऐसे भी अनेक लोग हुए हैं जिनके द्वारा किसी संस्था का निर्माण भले ही नहीं किया गया किन्तु जिनके व्यक्तिगत कार्य इतने प्रभावशाली रहे कि समाज में उन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में वह अपने-आप में किसी संस्था से कम प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए हैं।

इस तरह के लोगों में एक हैं गोविन्द गुरु जो स्वयं तो बनजारा जाति के थे किन्तु आदिवासियों में जो काम उन्होंने किया उसके लिए उन्हें आज भी आदिवासी श्रद्धा के साथ याद करते हैं। गोविन्द गुरु ने आदिवासियों के बीच काफी भ्रमण किया था और उस भ्रमण के दौरान उन्होंने आदिवासियों की गरीबी देखी, उनके अभावों को देखा। उनके जीवन में आने वाली कठिनाइयों को देखा तथा इनके कारणों को भी जाना-पहचाना और कारणों के निवारण के लिए तपस्या की दिशा बोध दिया।

गोविन्द गुरु ने अनुभव किया कि आदिवासियों में नशे की लत है जिसके कारण ये

तबाह होते जा रहे हैं। उन्होंने जहाँ-जहाँ वह गए आदिवासियों से नशा त्यागने के लिए अनुरोध किया। उनके प्रयासों का परिणाम हुआ हजारों आदिवासियों ने नशा त्याग देने की प्रतिज्ञा की और हमेशा के लिए नशा त्याग दिया।

गोविन्द गुरु ने देखा था, आदिवासियों में अनेक ऐसे लोग हैं जो चोरी करते हैं। उन्होंने चोरी की आदत पर अंकुश लगाने की प्रेरणा दी। फलतः लोगों ने चोरी न करने और अपने श्रम के बल पर आजीविका कमाने की प्रतिज्ञा की। इससे आदिवासियों के जीवन में सुधार आए।

उन्होंने देखा, आदिवासियों के जीवन में गन्दगी रहती है। इस कारण अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए उन्होंने स्वच्छता के साथ रहने की प्रेरणा दी। इससे अनेक रोगों से बचा जा सकता है। गोविन्द गुरु की इस प्रेरणा से लोगों ने प्रतिज्ञा की कि वे नित्य नियम से स्वयं स्नान करेंगे और अपने बच्चों को भी स्नान करने की आदत डालेंगे। साथ ही कपड़ों की स्वच्छता पर भी ध्यान देंगे।

आदिवासियों को उन्होंने परमात्मा का नाम लेने को प्रेरणा दी। नारियल के साथ अग्नि जलाकर होम करने की शिक्षा दी। उन्हें बताया कि वे भी इन्सान हैं और समाज मे आदर पाने का उनको भी उतना ही अधिकार है जितना किसी और को है।

गोविन्द गुरु के प्रयासों से आदिवासियों में जागरण के युग का आरम्भ हुआ था और आचरण की पवित्रता का क्रम शुरू हुआ था। परिवर्तन की एक लहर चली थी किन्तु आदिवासियों में आए जागरण को उदयपुर,डूँगरपुर, बासँवाड़ा, सिरोही के प्रशासन ने सहन नहीं कर पाया। रियासती प्रशासन के दमन चक्र ने गोविन्द गुरु को तो यातानाएँ दी हीं, आदिवासी भी शासन के दमन के शिकार हुए।

दमन के कारण परिवर्तन की लहर धीमी पड़ गई। उसमें अपेक्षित गति नहीं रही किन्तु आदिवासियों में जागरण आज भी है और इसी कारण गोविन्द गुरू का स्मरण आज भी श्रद्धा के साथ किया जाता है।

इस संदर्भ में मोतीलाल तेजावत का योगदान सराहनीय रहा है। इतिहास में उनका नाम अमर रहेगा। उन्होंने प्रौढ़ शालाएँ नहीं चलाईं किन्तु उन्होंने गाँव-गाँव जाकर भीलों को मादक पदार्थों के सेवन का त्याग करने की प्रेरणा दी एवं लूट-पाट की प्रवृत्ति को त्यागने की शपथ दिलाई। श्री तेजावत ने आदिवासियों को व्यवस्थित जीवन अपनाने में प्रवृत्त कर उनमें सामाजिक क्रान्ति का श्रीगणेश किया। श्री तेजावत की प्रेरणा से आदिवासियों ने अत्याचार सहन न करने एवं किसी भी प्रकार की बेगार न करने का संकल्प लिया।

श्री तेजावत ने आदिवासियों की स्थिति सुधारने के लिए जो प्रयत्न किये उनसे सामन्ती शासन सावधान हो गया और तेजावत तथा उनके प्रयासों को प्रभावहीन करने के लिए सक्रिय हो गया। श्री तेजावत की प्रेरणा से चलने वाले भीलों के एकी आन्दोलन को कुचलने के लिए सामन्ती शासन ने कमर कस ली। शासन ने हिंसक प्रवृत्ति अपना ली तो भीलों के तेवर भी बदले। स्थिति की भयानकता का अहसास श्री तेजावत को हो गया।

उन्होंने भीलों को संयम में रहकर आन्दोलन को अहिंसात्मक ढंग से चलाने का उपदेश दिया। श्री तेजावत को मार डालने के प्रयास भी सामन्ती शासन द्वारा किये गये, जिन्हें तेजावत के अनुयायियों ने विफल कर दिया।

भीलों में जागरण की जो लहर व्याप्त हुई वह मेवाड़ के आस-पास कई राज्यों में आग की तरह फैल गई। इस जन-जागरण का प्रभाव आज भी आदिवासियों में देखा जाता है।

---

१. फेमिन इन मेवाड़ राजपूताना के गवर्नर जनरल एजेन्ट द्वारा भारत सरकार के लिए लिखा गया फारेन एण्ड पॉलिटिकल डिपार्टमेन्ट। २२-३५ पी. आबू, २२ मई, १९००
२. पाण्डे, राम, एगेरिअन मूवमेन्ट्स इन राजस्थान, जयपुर, पृ. २४
३. चौधरी, रामनारायण, आधुनिक राजस्थान का उत्थान, अजमेर, पृ. ४७
४. शंकर सहाय सक्सेना : बिजौलिया किसान आन्दोलन का इतिहास, पृ. ५२-५४
५. वही पृ. ५९
६. वही पृ. ५९
७. श्री प्रताप सभा उदयपुर तथा प्रताप जयन्ती महोत्सव, पृ.१-२
८. राजस्थान में साहित्यिक संस्थाएँ और उनकी देन, पृ. ४०
९. राजस्थान में रचनात्मक कार्य, पृ. ६७
१०. श्रोत्रिय अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. १६
११. राजस्थान की साहित्यिक संस्थाएँ, और उनकी देन, पृ. ४७
१२. शोध पत्रिका, वर्ष ३३, अंक २ पृ.५७
13. राजस्थान में रचनात्मक कार्य, पृ. 57
14. वसुन्धरा 3 जनवरी 1948, पृ. 6

स्वातन्त्र्योत्तर काल

देश जब स्वतन्त्र हुआ तो राजस्थान के वातावरण में बहुत बड़ा परिवर्तन आया क्योंकि यहाँ जनता ने दोहरे शासन से मुक्ति पाई थी। ब्रिटिश शासन से सारा देश मुक्त हुआ था किन्तु राजस्थान की जनता ने तो रियासतों के सामन्ती शासन से भी मुक्ति पाई थी। इसलिए देश में आई स्वतन्त्रता की लहर के अनुरूप वातावारण का निर्माण करने के लिए जन-जीवन की मानसिकता को ढालने का महत्वपूर्ण कार्य सामने था।

राजस्थान की जनता शिक्षा के अभाव के कारण घोर अन्धकार में थी इसलिये प्रौढ़ शिक्षा का कार्य यहाँ बहुत अधिक कठिन कार्य था। राजस्थान में ऐसी अनेक संस्थाएँ थीं जो स्वतन्त्रता के संघर्ष काल में प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से समाज-सेवी कार्यकर्ताओं का निर्माण करने की साधना में रत रही थीं और स्वतन्त्रता सेनानियों की संरचना का दायित्व भी निभाती रही थीं। उस समय इस तरह की संस्थाओं को सरकार का कोप भाजन बनना पड़ता था। अब वह समस्या तो न रही लेकिन अब निरक्षरता के अन्धकार से सीधा आमना-सामना था।

स्वतन्त्रता संघर्ष के काल में प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से जहाँ एक ऐसा वातावरण बनाने का लक्ष्य सामने रहता था जिसमें जनता के सामने स्वतन्त्रता प्राप्त करने का लक्ष्य हो। अब प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र-निर्माण का लक्ष्य था जिसके लिए वातावरण भी बनाना था और कार्यकर्त्ता भी तैयार करने थे।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया

देश की स्वतन्त्रता के वातावरण में जनतन्त्रीय शासन प्रणाली को अपनाने का निश्चय किया गया। राजतन्त्र से प्रजातन्त्र के युग में देश ने प्रवेश किया। राजस्थान की जनता ने दोहरे शासन के बन्धनों से मुक्त होकर स्वयं के शासन का सबेरा देखा। एक नया क्रान्तिकारी परिवर्तन गुलामी की यन्त्रणाओं से जड़ीभूत मानसिकता के लिए चमत्कारी परिवर्तन था। इस सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को देखते रहने से ही कार्य चलने वाला नहीं था। राजस्थान के जन-जीवन की सक्रियता भी इसके लिए अपेक्षित थी।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में भागीदार बनने की क्षमता अर्जित करने की भी आवश्यकता थी। राजस्थान में व्याप्त निरक्षरता इस दिशा में बड़ी बाधक थी क्योंकि अनपढ़ जनता द्वारा किसी भी सामाजिक क्रान्ति को नहीं लाया जा सकता। निरक्षरता के अन्धकार को दूर करने के लिए सरकार ने योजना बनाई, सार्थक प्रयास करने का निश्चय किया। स्वयं-सेवी संस्थाओं ने भी इसी दिशा में सक्रियता दिखाई।

प्रौढ़ शिक्षा का कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओं के सामने जो कठिनाइयाँ आईं उनमें

सबसे भयानक कठिनाई जनता की उदासीनता थी। बूढ़े तोते राम-राम नहीं करते। अर्थात् उनके मन में यह भ्रान्ति थी कि बूढ़े तोते को राम-राम नहीं सिखाया जा सकता। तात्पर्य वह कि बूढ़े व्यक्ति के स्वभाव को बदला नहीं जा सकता।

मानवता के इतिहास में ऐसे उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि बहुत अधिक उम्र होने पर जिन लोगों ने पढ़ने-लिखने का क्रम सीखना शुरू किया, उन लोगों ने कीर्तिमान स्थापित किये हैं। इस दृष्टि से महर्षि बाल्मीकि का उदाहरण दृष्टव्य है।

जनश्रुति के अनुसार पहले वह रत्ना नामक डाकू थे जो भी व्यक्ति जंगल से होकर निकलता, उसे वह लूट लेते थे। बाधा डालने पर उसे मार भी डालते थे। एक बार उधर से नारद जी निकले उनको भी रत्ना ने पकड़ लिया। नारद जी हँसने लगे। रत्ना ने हँसने का कारण पूछा। नारद जी ने कहा : लूटने मारने का पाप तुम किसलिये करते हो ? रत्ना ने कहा: अपने परिवार का पेट पालने के लिए।

नारद जी ने कहा जिनके लिए तुम यह पाप करते हो ? इनमें से कोई भी पाप का दण्ड भोगने को तैयार न होगा। रत्ना ने कहा जब वे सब मेरी कमाई खाते हैं तो इसके लिए मिलने वाले दण्ड में भी भागीदार बनेंगे। नारद जी ने कहा तुमने उनसे कभी पूछा नहीं। यदि पूछोगे तो सच्चाई का पता चल जाएगा।

रत्ना ने जब परिवार वालों से पूछा तो उन लोगों ने कहा, हम सबका पालन-पोषण करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का पालन तुम किस प्रकार करते हो ? इससे हमारा कोई लेना-देना नहीं है। हम इसके दण्ड के भागीदार नहीं हो सकते।

रत्ना लौटकर आया तो उसकी आँखें खुल चुकी थीं। वह नारद जी के चरणों में आ गिरा। लूटपाट छोड़ देने की प्रतिज्ञा की और पाप से निवृत्ति का उपाय पूछा। नारद जी ने राम-राम जपने का उपदेश दिया और वह चले गए।

रत्ना ने राम-राम जपना शुरू किया। उसके साथ ही उसने पढ़ना-लिखना आरम्भ किया। उसका जीवन-क्रम बदल गया। सर्वथा नया जीवन अपनाने वाले रत्ना का नाम बाल्मीकि हो गया और वह इतने बड़े विद्वान् बने कि उन्होंने रामायण जैसा महाकाव्य लिखा। उन्हें आदि कवि बाल्मीकि के नाम से प्रसिद्धि मिली। यह उदाहरण कार्यकर्त्ताओं के लिए उत्साहवर्द्धक था। उनके मन में यह धारणा बनी कि पढ़ने-लिखने व सीखने की कोई आयु नहीं होती। आदमी जब चाहे पढ़ना-लिखना सीख सकता है। कहा भी गया है कि विद्या और धन व्यक्ति को अजर-अमर मानकर अर्पित करते रहना चाहिए और हर क्षण स्वयं को मृत्यु के वशीभूत मानकर धर्म करते रहना चाहिए।

इस सम्बन्ध में महाकवि कालिदास का उदाहरण भी प्रेरणादायक है। जो आरम्भ में इतने मूर्ख थे कि जिस पेड़ की डाली पर खड़े होते उसी को कुल्हाड़ी से काटते रहते थे। इनकी मूर्खता को देखकर पंडितों ने सोचा– इस मूर्ख से काशी की राजकुमारी का विवाह करा दिया जाय तो उनकी हार का बदला हो जाएगा। वे पंडित राजकुमारी विद्यावती से शास्त्रार्थ में हार गये थे और उन्हें उस हार के कारण अपमानित होना पड़ा था।

पंडितों ने कालिदास को सजाया-सँवारा और राजसभा तक ले गए। शास्त्रार्थ के समय कालिदास को समझा दिया था कि उसे मौन बने रहना है। पंडितों ने अपने शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग कर ऐसा षड्यन्त्र रचा कि कालिदास को शास्त्रार्थ में विजयी घोषित कर दिया गया। कालिदास की राजकुमारी से शादी हो गई लेकिन बातचीत के दौरान कालिदास की मूर्खता छिपी न रही। राजकुमारी को पता चला कि पंडितों ने उसके साथ षड्यन्त्र किया है। उसने कालिदास को अपमानित कर राजमहल से बाहर निकाल दिया।

कालिदास ने पढ़ने-लिखने में मन लगाया और इतने विद्वान् बने कि उन्हें कवि कुल शिरोमणि माना जाता है। विद्वानों में उन्हें पूज्य माना गया। आज भी महाकवि के रूप में कालिदास का नाम आदर से लिया जाता है।

महर्षि बोपदेव ने भी चालीस वर्ष की आयु में पढ़ना-लिखना आरम्भ किया था। पढ़-लिखकर वह महान् विद्वान् बने। कहा जाता है कि उन्होंने पनघट पर देखा, रस्सी रखने की जगह पत्थर पर भी निशान पड़ गये हैं। इससे उन्हें प्रेरणा मिली की रस्सी जैसी कोमल चीज के बार-बार रगड़ से पत्थर जैसी कठोर वस्तु पर निशान पड़ सकते हैं तो लगातार प्रयास करने से बुद्धि विकसित क्यों नहीं हो सकती। यही प्रेरणा उनके जीवन के लिये वरदान बन गई।

कार्यकर्त्ताओं को लगा यदि वे भी प्रयास करते रहे तो जनता में व्याप्त उदासीनता को दूर किया जा सकता है। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में साधनारत कार्यकर्त्ताओं ने जनता में व्याप्त अन्ध-विश्वासों को दूर करने वाली बातों की चर्चा की। परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध वातावरण बनाया और मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव उत्पन्न करने वाली बातों से दूर रहने की प्रेरणा दी।

कार्यकर्त्ताओं ने नागरिकता का सामान्य ज्ञान भी दिया। उन्होंने बताया, जमाना बदल गया है अब इस देश के मालिक तुम हो। तुम जिन्हें चुनोगे वे ही अब देश का शासन चलाएँगे। उन्होंने बताया कि अब हर व्यक्ति को वोट देने का अधिकार है। उन वोटों की गणना की जाती है। बहुमत प्राप्त करने वाला व्यक्ति विजयी घोषित होता है। इस प्रकार चुने हुए लोग विधान सभाओं और संसद में शासन चलाते हैं।

कार्यकर्त्ताओं द्वारा जनतन्त्रीय शासन प्रणाली का स्वरूप बताने से लोगों की जड़ता भंग हुई। उनमें साक्षर ज्ञान के प्रति भी उत्सुकता जागी। उन्हें लगा पढ़ने-लिखने से बुद्धि की जड़ता दूर होती है। वाणी परिष्कृत होती है। समाज में आदर बढ़ता है। पाप की ओर से मन हटता है। चेतना प्रसन्न होती है। इस प्रकार प्रौढ़ शिक्षा के लिए वातावरण बनने लगा।

समाजोपयोगी चैतन्य का विस्तार

राजस्थान की जनता में व्याप्त निरक्षरता का प्रमुख कारण गरीबी है। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओं के द्वारा इस सत्य को हृदयंगम किया गया। जो बच्चे

कभी स्कूल नहीं गए अथवा स्कूल गए तो बीच में से ही पाठशाला जाना जिन्होंने बन्द कर दिया, उसका कारण परिवार में आर्थिक कठिनाइयों का होना था। परिवार की आर्थिक स्थिति ने उन्हें विवश किया कि वे पढ़ना छोड़कर परिवार की स्थिति को सँभालने के लिए पैसा पैदा करने में जुटें।

प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र तक अनपढ़ व्यक्ति को लाने के लिए भी यही कठिनाई सामने आई कि अपना काम छोड़कर कोई पढ़ने के लिए केन्द्र पर आने को उत्सुक न था। खाली समय में भी प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों पर वे इसलिये आना नहीं चाहते थे क्योंकि वे इसे निरर्थक समझते थे। पढ़ना, लिखना सीखने से उन्हें क्या मिलेगा। यह प्रश्न उनके मन में घुमड़ता था। इसे वे व्यक्त भी करते थे। साथ ही समाज में पढ़े-लिखे लोगों को रोजगार के लिए मारा-मारा घूमना उनके लिए उदाहरण था जिसे वे कार्यकर्त्ताओं के सामने प्रस्तुत करते थे।

प्रौढ़ शिक्षा को उपयोगी बनाने की दृष्टि से इस प्रकार के कार्यों का इसमें समावेश करना आवश्यक हो गया था जिनसे प्रौढ़ यह अनुभव करे कि पढ़-लिखकर या सीखकर उसकी स्वयं की आय में बढ़ोतरी हो सकती है। इसके लिए प्रौढ़ों के उद्योग धन्धों से सम्बन्धित ज्ञान उपलब्ध कराने की योजना को क्रियान्वित किया गया।

जब तक समाज में लोग भूखे हैं और अज्ञानी हैं। तब तक पढ़े लिखे पर उनकी ओर ध्यान न देने का कलंक लगा ही रहेगा। जनता की शिक्षा की उपेक्षा करने के पाप का प्रायश्चित्त समाज के प्रत्येक व्यक्ति को साक्षर करके ही किया जा सकता है। इसके लिए अनपढ़ व्यक्ति को कुटीर उद्योग अथवा घरेलू उद्योग का प्रशिक्षण भी उपयोगी हो सकता है।

प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों पर इस प्रकार की व्यवस्था की गई। जिससे लोगों को किसी-न-किसी हस्तकला का प्रशिक्षण मिल सके। इस तरह की व्यवस्था में इस बात का ध्यान रखा गया कि उसी हस्तकला के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय जिसके लिये आवश्यक सामग्री उस क्षेत्र में सुलभ हो।

वह किसान जो मिट्टी को रोंदता है और रात-दिन एक कर अपने खून-पसीने से एक से हजारों दाने उत्पन्न कर दिखाता है उसे मिट्टी की प्रकृति समझाने की आवश्यकता अनुभव की गई। खेती के सम्बन्ध में आधुनिक यन्त्रों की जानकारी देने पर ध्यान दिया गया। साथ ही आधुनिक विधियों के बारे में बताने का प्रबन्ध किया गया। खेती के लिए उपयोगी विज्ञान की नवीन उपलब्धियों के बारे में जानकारी देने की भी व्यवस्था की गयी।

सहकारिता आन्दोलन देश में प्रारंभ किया गया था। इसका तात्पर्य था व्यक्ति परस्पर सहकारिता के आधार पर एक-दूसरे का सहयोग करे और निरन्तर आगे बढ़ता जाय। प्रौढ़ शिक्षा के द्वारा इस आन्दोलन की सफलता के लिए उपयुक्त वातावरण बनाने का प्रयास किया गया ताकि लोग मिल-जुलकर आगे बढ़ने में रुचि लें। विकास करें। प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों में बताया गया कि लोग किस प्रकार सहकारी समितियों से बैंकों से व सरकार से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। क्या करने से वे अधिक-से-अधिक फसल उगा सकते हैं ? तथा फसल

का मूल्य कहाँ ले जाकर बेचने से अधिक-से-अधिक प्राप्त किये जा सकते हैं ?

प्रौढ़ शिक्षा को समाजोपयोगी बनाने की दृष्टि से मशीनों के बारे में जानकारी देने की व्यवस्था की गई। उनके उपयोग के बारे मे बताने की आवश्यकता प्रतिपादित की गई। श्रमिकों की कार्य-कुशलता कैसे बढ़ सकती है ? इस सम्बन्ध में चिन्तन किया गया ताकि श्रमिक अपनी आय बढ़ाने की क्षमता अर्जित करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों की ओर आकर्षित हों।

उत्साह का वातावरण—साक्षरता कार्यक्रम के अनुभव में अनेक ऐसे स्त्री पुरुषों को देखा गया जिनके लिये आरम्भ में थोड़ा-सा पढ़ना या कुछ वाक्य लिखना अत्यन्त कठिन था। किन्तु प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाओं में आने के बाद उनके लिए न केवल आसान हो गया बल्कि उनके मस्तिक में भी नई चेतना आई। उनकी बुद्धि नये-नये क्षेत्रों में प्रवेश करने लगी और उनकी वाणी और लेखन में भावनाओं को व्यक्त करने की नई क्षमता आई।

प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम में यह अनुभव भी हुआ कि मनुष्य की आयु जितनी बढ़ती जाती है, मनुष्य उतना ही धीमा पड़ता जाता है क्योंकि आयु की वृद्धि के साथ-साथ उसकी शक्तियाँ क्षीण होती जाती हैं। प्रौढ़ व्यक्ति काम को धीरे-धीरे इसलिए करते हैं क्योंकि वे जानते हैं जल्दी का काम शैतान का होता है। वे जानते हैं कि जो काम शक्ति और धैर्य के साथ किया जाता है उसमें गलती की संभावना बहुत कम रहती है। प्रौढ़ व्यक्ति काम को जल्दी निपटाने की जगह इस बात पर ध्यान देता है कि काम सही हो और पक्का हो।

अनुभव से यह शिक्षा भी ग्रहण की गई कि प्रौढ़ को सिखाने पर बल नहीं दिया जाना चाहिए। उन्हें सीखने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए क्योंकि प्रौढ़ सीखने का दृढ़ निश्चय जब कर लेता है तो उसके मार्ग में शारीरिक कमजोरी बाधक नहीं हो सकतीं। उसकी इच्छा-शक्ति उसे आगे बढ़ने के लिये-प्रेरित करती है। उसका अपना अनुभव उसे लगातार कोशिश करने का सम्बल प्रदान करता है। उसका व्यावहारिक ज्ञान उसमें उत्साह का संचार करता है।

प्रौढ़ों में सीखने की प्रवृत्ति का जागना ही सफलता का संकेत है क्योंकि सीखने के लिए प्रेरित होने के पश्चात् प्रौढ़ का उत्साह देखते ही बनता है। सीखने के लिए प्रेरित होकर जब प्रौढ़ इस ओर प्रवृत्त होता है तो यह मान लेना चाहिए कि आधा काम हो गया क्योंकि इसके बाद तो प्रौढ़ स्वयं ही निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। प्रौढ़ शिक्षक की भूमिका उत्साह को बढ़ाने का हो तो सफलता निश्चित मान लेनी चाहिए।

ग्रामीण विकास की आवश्यकता

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था—अपना भारत गाँवों में बसता है। इसलिए भारत राष्ट्र का विकास करना है तो गाँवों का विकास किया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा था गाँव अपने-आप में एक पूर्ण इकाई है। हर गाँव अपने-आप में एक छोटा भारत है। यदि पूरी शक्ति लगाकर गाँवों को विकसित किया जाय तो भारत का विकास होता जाएगा।

गाँव के विकास की दृष्टि से तीन संस्थाओं को महत्वपूर्ण माना जाता है। पंचायत, पाठशाला और स्वास्थ्य केन्द्र। प्रौढ़ शिक्षा का इन तीनों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। पंचायत के चुनावों से विधान सभा और लोक सभा के चुनावों का आभास मिलता है। पंचायत के कार्य जनतन्त्रीय शासन प्रणाली की पद्धति को मूर्तिमान कर दिखाते हैं।

प्रौढ़ शिक्षा का तात्पर्य स्वस्थ समाज का निर्माण करना है। इसके लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों की जानकारी प्रौढ़ कार्यक्रमों में दी जाती है। जिससे प्रौढ़ों को सामाजिक स्वास्थ्य और व्यक्तिगत स्वास्थ के सामान्य नियमों का ज्ञान है।

पाठशाला और प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र दोनों का काम शिक्षा का है। पाठशाला में औपचारिक शिक्षा दी जाती है जबकि प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र का शिक्षण अनौपचारिक ढंग से होता है। इस प्रकार प्रौढ़ शिक्षा को ग्राम विकास के साथ सम्बद्ध किया गया।

नये वातावरण की ओर—देश की स्वाधीनता के अनुरूप नये वातावरण बनाने पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। समाज में व्याप्त कुरीतियों के निवारण की दृष्टि से कार्यक्रम निर्धारित किये गये। उदाहरण के लिए, बाल-विवाह की बुराइयों की ओर संकेत किया गया। यह बताया गया कि बाल विवाह से बालिकाएँ कच्ची उम्र में ही माताएँ बन जाती हैं जिसके कारण उनका स्वास्थ कमजोर हो जाता है और लगातार कमजोर होता जाता है। बच्चे अधिक पैदा होते हैं जिससे प्रदेश की जनसंख्या लगातार बढ़ती जाती है।

इसी तरह दहेज प्रथा की बुराइयों के बारे मे बताया गया कि दहेज के कारण न जाने कितनी महिलाओं को तरह-तरह की यन्त्रणाएँ सहनी पड़ती हैं। अनेक महिलाओं को जलाकर या जहर देकर मार डाला जाता है। दहेज के कारण नौजवानों में बिकने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इससे उनमें आत्म-निर्भरता की प्रवृत्ति विकसित नहीं हो पाती।

अन्धविश्वासों के विरुद्ध वातावरण बनाया गया। मृत्यु-भोज पर अन्ध-विश्वास के कारण अनाप-शनाप खर्च किया जाता था जिससे परिवार प्रायः कर्ज में डूब जाता था। प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया गया कि मृत्यु-भोज पर जो खर्च किया जाता है, वह व्यर्थ है। यदि स्वर्गवासी आत्मा की शान्ति के लिए कुछ करना ही है तो कोई ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे लोक कल्याण हो। दूसरे लोगों का भला हो।

प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से इस तरह के प्रयास किये गए जिनके द्वारा देश का वातावरण स्वतन्त्रता की गरिमा के अनुरूप बने। लोग साक्षर हों और समाज के लिए समर्पण से काम करने का लक्ष्य अपनाएँ।

मानव मूल्यों की स्थापना—राजस्थान की धरती सन्तों, साधुओं, सतियों और वीरों से धन्य हुई और होती रही है। इसलिए राजस्थान के त्याग और बलिदान की परम्परा को जीवित बनाये रखने के लिए परोपकार के आदर्श को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया। स्वतन्त्रता पश्चात् देश में स्वार्थ का बोलबाला हो गया। लोगों में अपने लिए जीने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। इसलिए यह बताने का प्रयास किया गया कि अपने लिए जिओ लेकिन दूसरों को जीने का मौका दो। यथा संभव दूसरों की सहायता भी करो।

चरित्र-निर्माण शिक्षा का मूल उद्देश्य रहा है। इसलिए प्रौढ़ शिक्षा में इसे महत्व दिया गया। गाँवों में निरक्षरता भले ही बहुत थी किन्तु ग्रामीण जनों में परस्पर प्रेम था, सहयोग का भाव था। हिल-मिलकर आगे बढ़ने की चेतना थी। इसलिए चरित्र-निर्माण की प्रेरणा उन्हें दी जाती थी लेकिन इससे अधिक प्रेरणा उनसे ग्रहण करने का अवसर मिलता था।

राजस्थान के इतिहास से ज्ञात होता है कि मानव मूल्यों के लिए यहाँ संघर्ष किये गए हैं। मानव मूल्यों की रक्षा के लिए लोगों ने प्राण तक न्यौछावर किये हैं। इसलिए मानव मूल्यों की स्थापना पर विशेष रूप से बल दिया गया।

समाज में निरक्षरता के अन्धकार को दूर करने की आवश्यकता प्रतिपादित की गई ताकि समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव समाप्त हो। गरीब-अमीर सबको समान समझा जाय। विषमता की सभी दीवारें ढहा दी जाएँ। सबको समान अधिकार है। कानून के सामने सब समान हैं। वयस्क होने वाले सभी स्त्री-पुरूषों को मतदान का अधिकार प्राप्त है।

जनसंख्या नियन्त्रण—प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन पर जनसंख्या के भयानक विस्फोट से विपरीत प्रभाव पड़ता रहा। इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत जनसंख्या के नियन्त्रण से सम्बन्धित जानकारी प्रदान की जाय। प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से जितने लोगों को साक्षर करना संभव हो पाता था उससे अधिक बच्चे पैदा हो जाते थे। फलतः अनपढ़ लोगों की संख्या बढ़ती रहती थी।

इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा अनेक प्रकार के कार्यक्रम अपनाये गए किन्तु अन्धविश्वास के कारण लोग जनसंख्या नियन्त्रण के लिए उपयोग किये जाने वाले साधनों को अपनाने में हिचकते थे क्योंकि उनके मन में यह अन्धविश्वास गहराई से जमा था कि बच्चे तो भगवान् का वरदान हैं। उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जनसंख्या नियन्त्रण को वे सर्वथा अप्राकृतिक मानते थे। प्रौढ़ शिक्षा द्वारा उनके अन्धविश्वास को समाप्त करने का प्रयास किया गया।

प्रौढ़ शिक्षा का कार्य वास्तव में लोक मंगल का कार्य है। समाज को बुराई से अच्छाई की ओर प्रवृत्त करने का कार्य है। निरक्षरता के अन्धकार से समाज को बाहर निकालकर साक्षरता के प्रकाश की ओर तो चलने का कार्य है। इसके लिए कठिन साधना करनी पड़ती है।

इस साधना को सिद्ध करने के लिए ही प्रौढ़ शिक्षा का कार्यकर्त्ता समाजोपयोगी कार्यों को अपनाता है ताकि जनता से सीधा सम्पर्क बने और वह प्रौढ़ों को सीखने के लिये प्रवृत्त करने में सफल हो सके।

प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में किये गए प्रयोग

प्रौढ़ों को सीखने के लिए प्रेरित करने की दिशा में तरह-तरह के प्रयोग किये गए। दीवारों पर जगह-जगह साक्षरता से सम्बन्धित नारे लिखे गए। गलियों, मोहल्लों व

गलियारों में जुलूस निकाले गए जिनमें निरक्षरता को दूर करने के लिए साक्षरता से होने वाले लाभों का आभास देते हुए नारे लगाये गए। प्रभात फेरियाँ आयोजित की गईं। सीखने के लिए प्रेरित करने की दृष्टि से अनपढ़ लोगों के दुःख-दर्द में शामिल होने का रास्ता अपनाया गया। जन-सम्पर्क किया गया।

साक्षरता के लिए आकर्षित करने की दृष्टि से प्रदर्शिनयाँ आयोजित की गईं। भजन मण्डलियों द्वारा आयोजन किये गए। विभिन्न प्रकार के मेले आयोजित किये गए। संगोष्ठियाँ रखी गईं। मनोरंजन के विविध कार्यक्रम आयोजित किये गए।

प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र

सीखने की दिशा में प्रौढ़ के साथ इस प्रकार के व्यवहार का प्रशिक्षण कार्य कार्यकर्त्ताओं को दिया गया जिससे प्रौढ़ व्यक्ति केन्द्र पर अपनत्व का अनुभव करे। समाज में प्रौढ़ व्यक्ति की जो प्रतिष्ठा है उसके अनुरूप उसके साथ व्यवहार हो। उसका सम्मान हो ताकि अनपढ़ व्यक्ति का ध्यान केवल सीखने पर ही केन्द्रित रहे।

अनपढ़ व्यक्ति का जीवन जीने का अपना एक ढंग होता है। समाज के, राष्ट्र के एवं परिवार के सम्बन्ध में उसका अपना दृष्टिकोण होता है। इस तरह की व्यवस्था की गई कि उसके दृष्टिकोण की आलोचना न की जाय। उसके भीतर हीनता के भावों को पनपने न दिया जाय। उसके विचारों को मान्यता दी जाय। उसका आदर किया जाय। उसके गुणों की प्रशंसा की जाय ताकि सीखने के प्रति उसका उत्साह बढ़े।

प्रौढ़ शिक्षक को इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाए कि वह अनपढ़ व्यक्ति के साथ मित्र की भूमिका निभाये ताकि प्रौढ़ शिक्षा पर उसका विश्वास जम सके। एक मार्गदर्शक की तरह प्रौढ़ शिक्षा के कार्यकर्त्ताओं को चाहिए कि अनपढ़ व्यक्ति को सीखने के लिए लगातार प्रेरित करता रहे। सीखने की प्रक्रिया में प्रौढ़ शिक्षा का मन्तव्य, जीवन दर्शन और लक्ष्य अनपढ़ के सामने स्पष्ट होना चाहिए ताकि वह उसे आत्मसात करने के लिए लालायित हो उठे।

बदलती धारणाएँ

राजस्थान में प्रौढ़ शिक्षा के लिए स्वतन्त्रता के बाद से लगातार प्रयोग किये जाते रहे हैं। प्रयोग के साथ जो परीक्षण किये गए, उनके परिणामों से जो निष्कर्ष निकाले गए उनके अनुरूप परिवर्तन किये गए क्योंकि समय-समय पर प्रौढ़ शिक्षा के सम्बन्ध में धारणाएँ लगातार बदलती रही हैं।

साक्षरता का अर्थ यह लिया गया कि व्यक्ति को अक्षर ज्ञान इस सीमा तक करा दिया जाय कि कम-से-कम वह अपने हस्ताक्षर अपने-आप कर सके। अँगूठे का निशान लगाना तो बन्द हो। कुछ समय बाद जब मूल्यांकन किया गया तो पता चला कि अनपढ़ व्यक्ति को सीखने के क्रम में सुविधाजनक उपाय का प्रयोग किया गया है। अक्षर ज्ञान न कराकर

केवल हस्ताक्षर करना सिखा दिया गया है। वह भी निरन्तर काम में न आने के कारण अभ्यास के अभाव में अनपढ़ भूल गया। फलतः परिणाम जहाँ का तहाँ रहा।

तब यह सोचा गया कि अनपढ़ व्यक्ति को कम-से-कम इतना ज्ञान तो करा ही दिया जाय कि वह स्वयं पत्र लिख सके, पढ़ सके, अपने विचारों को व्यक्त कर सके, दैनिक व्यवहार में काम आने वाले हिसाब-किताब का लेखा जोखा कर सके, इतना गणित का ज्ञान होना चाहिए।

निरन्तरता के अभाव में ऐसा अनुभव किया गया कि यह प्रयोग भी असफल सिद्ध होता जा रहा है। तब समाज शिक्षण का प्रयोग अपनाया गया। शिक्षण को सार्वजनिक रूप दिया गया। जहाँ प्रौढ़ शिक्षक कार्य करता हो, वहाँ इस प्रकार के कार्यक्रम आयोजित करें ताकि सारा समाज उसमें रुचि ले।

इसके साथ-साथ सामुदायिक शिक्षण का क्रम भी अपनाया गया। सम्पूर्ण समुदाय को शिक्षा के क्रम में संलग्न करने के लिए विविध कार्यक्रम अपनाये गए। सम्पूर्ण समुदाय की सहभागिता के लिए प्रयास किए गये ताकि विकास के साथ इसकी सम्बद्धता को जोड़ा जा सके।

सबसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम उपयोगी साक्षरता को मानकर अपनाया गया। किसान को खेती के सम्बन्ध में आधुनिक विधियों की जानकारी दी गई। विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के बारे में बताया गया ताकि आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग कर वह अपने उत्पादन में वृद्धि कर सके। सहकारी क्रय-विक्रय समितियों के बारे में जानकारी दी गई ताकि सूदखोरों के चंगुल से वह छूट सके। सहकारी बाजार की कार्य-प्रणाली समझाई गई ताकि वह अपनी फसल का उचित मूल्य प्राप्त कर सके।

प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत कुटीर उद्योगों और घरेलू-धन्धों के बारे मे विस्तृत जानकारी दी गई ताकि ग्रामीण-जन अपने अवकाश के समय सदुपयोग कर अपनी आय बढ़ा सकें तथा अपने जीवन को अधिकाधिक उपयोगी बना सकें। श्रमिकों को कार्य-कुशलता का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई।

शिक्षा प्रणालियाँ

राजस्थान में साक्षरता अभियान को सफल बनाने के लिए अब तब अनेक प्रणालियाँ अपनायी गई हैं। इनमें से हर प्रणाली की अपनी उपयोगिता है। उसकी विशेषता है। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा प्रणाली वही सार्थक सिद्ध होती है जो प्रौढ़ की रुचि के अनुरूप होती है। साथ प्रौढ़ शिक्षा में सफलता प्रौढ़ एवं प्रौढ़ शिक्षक के पारस्परिक सम्बन्धों की मधुरता पर निर्भर रहती है।

प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम को इस प्रकार चलाया जाये कि प्रौढ़ में सीखने की लगन उत्पन्न हो जाए। लगन उत्पन्न होते ही प्रौढ़ अपनी सम्पूर्ण बुद्धि और सम्पूर्ण क्षमता का उपयोग करता है। फलतः सीखने में सफल होता है।

अनुभव ने यह सिद्ध किया कि प्रौढ़ अभ्यास से सीखता है इसलिए अनपढ़ व्यक्ति को निरन्तर प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। उसकी भूलों के लिए कुछ कहने से उसका दिल टूट जाता है जिससे सीखने के प्रति उत्साह कम हो जाता है। इसलिए अनपढ़ व्यक्ति में निरक्षरता को दूर करने के लिए संकल्प को निरन्तर बनाए रखना है तो उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए सीखने की दिशा में आगे बढ़ाने का क्रम अपनाना चाहिये।

यह सिद्धान्त की बात है कि जिस काम में व्यक्ति को आनन्द आता है उसे सीखने के लिए व्यक्ति लालायित रहता है। यदि प्रौढ़ व्यक्ति को उसके कार्य के लिए प्रशंसा मिले तो वह लगातार आना चाहता है।

हर प्रौढ़ में कोई-न-कोई गुण अवश्य होता है। उदाहरण के लिए कोई-कोई प्रौढ़ कहानी कहने की कला में इतना पारंगत होता है कि लोग उसकी कहानियाँ घण्टों बैठे सुनते रहते हैं। कोई प्रौढ़ चुटकुले इतने अच्छे ढंग से सुनाता है कि हँसते-हँसते लोगों के पेट में बल पड़ जाते हैं। कोई-कोई अनपढ़ व्यक्ति भजन इतने अच्छे गाता है कि लोग सुनकर भाव मगन हो जाते हैं। लोकगीतों के गाने वाले अनपढ़ तो प्रायः प्रशंसा के पात्र होते ही हैं। भाषण देने की कला किसी-किसी में अद्‌भुत होती है। अनपढ़ लोगों में अच्छे कथाकार होते हैं उन्हें अपनी कला के प्रदर्शन का अवसर दिया जाना चाहिए और उनकी कला की प्रशंसा भी की जानी चाहिए।

प्रौढ़ शिक्षा पद्धतियों को अपनाते समय इस बात का ध्यान रखने की आवश्यकता होती है कि प्रौढ़ राष्ट्र के वर्तमान हैं। अतः प्रौढ़ों की सामाजिक परिस्थिति और उनकी रूचि के अनुरूप प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली अपनाने से सफलता शीघ्र ही प्राप्त की जा सकती है। उसके व्यक्तित्व का ध्यान रखना ही उपयोगी सिद्ध होता है।

सामान्यतः अनपढ़ व्यक्ति को साक्षर बनाने के लिए परम्परागत शिक्षा प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए वर्णमाला के क्रम में वर्णों का ज्ञान कराया जाता है। वर्ण, फिर शब्द और इसके बाद वाक्य सीखने का क्रम रहता है। वाक्य के बाद कहानी, गीत, निबन्ध सीखने का क्रम आता है। इस प्रक्रिया में सार्थकता को मुख्य रूप से आधार बनाने के लिए परिवर्तन भी किया जाता है।

वर्णों के क्रम में परिवर्तन करने के लिए आत्म विश्वास को जगाना आवश्यक समझा गया। इसके लिए सरलता से कठिनता की ओर ले जाने का रास्ता अपनाया गया। यह आवश्यक समझा गया कि अनपढ़ में पहले ही दिन से यह आत्म विश्वास जाग जाना चाहिये कि वह सीख सकता है। यह आत्म-विश्वास जगाने के बाद अनपढ़ व्यक्ति को शिक्षा ग्रहण करने से कोई कठिनाई नहीं रोक सकती।

इस प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली में यह निश्चित किया गया था कि पहले दिन से ही प्रौढ़ व्यक्ति को तीन अक्षरों का ज्ञान कराया जाय। उन तीन अक्षरों से बनने वाले सभी शब्द बता दिये जायँ। साथ ही वाक्य बनाना भी सिखा दिया जाय। इससे अनपढ़ व्यक्ति पहले ही दिन से अनुभव करने लगता है कि वह वर्ण ही नहीं, शब्द भी बना सकता है और वाक्य

भा बना सकता है।

उदाहरण के लिए पहले दिन इस शिक्षा प्रणाली में तीन अक्षर सीखने के लिए र ग म निर्धारित हैं। पहले ा बनाना सीखने के लिए कहा जाता है फिर ा में एक आड़ी रेखा खींच कर र को बनाना सीखा जाता है। नीचे की घुण्डी के बाद रेखा हटाकर आगे एक लकीर और खींच कर ग बनाया जाता है। ग में पहली रेखा की घुण्डी से आगे की रेखा को मिलाकर म बना लिया जाता है।

इन तीन र ग म और ा मात्रा से राम, राग, गाम, मार, गार, गरम, मगर आदि अनेक शब्दों का बनाना सीखा जाता है। पहले ही दिन वाक्य बनाना भी सीखा जाता है।

मा। राम राम।

इसी प्रकार इस शिक्षा प्रणाली के माध्यम से तीन अक्षर रोज सीखे जाते हैं। पिछला पाठ दुहराकर आगे बढ़ने का विधान है। इससे प्रौढ़ में आत्म-विश्वास नित्यप्रति बढ़ता जाता है और पढ़ना-लिखना आसान हो जाता है।

प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसी पद्धति का प्रयोग भी किया गया जिसमें खेल ही खेल के द्वारा शब्दों के सीखने की प्रेरणा दी जाती थी। इसके लिए साधन के रूप में हाथ भर रस्सी की ही जरूरत पड़ती थी। प्रौढ़ शिक्षा की इस प्रणाली के माध्यम से साक्षरता का काम करने वालों का कहना था हाथ-भर रस्सी से ही निरक्षरता के गले में फाँसी का फन्दा लगाया जा सकता है।

हाथ-भर रस्सी रखने का सबसे बड़ा यह लाभ था। अनपढ़ व्यक्ति जहाँ कहीं मिल जाता था, वहीं खड़े होकर दीवाल पर रस्सी के माध्यम से वर्ण का चित्र बनाते और उस चित्र के द्वारा अक्षर बनाने की बात समझाते। चित्र इतना सुन्दर बनता कि अनपढ़ व्यक्ति उसे देखता रह जाता।

इस प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली की यह विशेषता थी कि इसके लिए विशेष प्रकार के साधनों की आवश्यकता नहीं होती। हाथ-भर रस्सी कहीं भी आसानी से सुलभ हो जाती। इसकी कमजोरी यह थी कि रस्सी के अक्षर का चित्र बनाने की कला में निपुणता प्राप्त करना आसान काम नहीं है।

वर्णों के क्रम में परिवर्तन करने वाली एक प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली और भी थी जिसका प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी में o का वर्ण अण्डे के आकार का होता है इसलिये इस पद्धति का प्रयोग करने वाले सबसे पहले o का वर्ण सीखने की प्रेरणा देते थे और o से ही अन्य वर्णों को बनाने के माध्यम से अक्षर ज्ञान कराते थे। उनका कहना था जिस तरह अण्डे से बच्चे निकलते हैं, वैसे ही अण्डे से वर्ण या अक्षर भी निकलते हैं।

इस पद्धति का हिन्दीकरण किया गया और अण्डे का आकार बनाकर हिन्दी के वर्ण निकालने की कला को प्रदर्शित किया जाता था। वर्णों के क्रम में परिवर्तन को महत्व न दिया जाय तो यह प्रौढ़ शिक्षा पद्धति परम्परागत वर्णमाला के सिद्धान्त का परिचय देने वाली ही सिद्ध होती है।

कहानी कहने का अपना विधान है। कहानी सबसे रोचक विद्या है। इसका अस्तित्व उतना ही पुराना है जितना पुराना मानव का अस्तित्व है। मानव के आदि काल से ही कहानी का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पंच तन्त्र ऐसी ही कहानियों का संग्रह है जिनके माध्यम से विष्णु शर्मा नाम के पण्डित ने राजपुत्रों को राजनीति, धर्म एवं सासांरिक ज्ञान की शिक्षा छः महीने के अल्प काल में दे दी थी।

कहानी के द्वारा प्रौढ़ों को साक्षर करने की शिक्षा प्रणाली जितनी रोचक है, उतनी ही श्रेष्ठ भी है। कहानी सिद्धान्त वाक्यों से आरम्भ करने वाली प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली का विस्तार मात्र है जिससे पढ़ाई की प्रारम्भिक अवस्था में वाक्यों के एक क्रमबद्ध समूह को कहानी के रूप में शिक्षण का आधार बनाया जाता है। साथ ही विकसित भी किया जाता है।

कहानी पद्धति वाक्यों की तुलना में विचार की एक अधिक पूर्ण इकाई प्रस्तुत करने वाली है। इसलिए कि शिक्षार्थी को घटनाओं के पूरे सिलसिले से गुजरना पड़ता है, जिसमें विधिवत रूप से शुभारम्भ, विकास, चरम सीमा तथा अन्त तक की योजना होती है। कहानी पद्धति से सीखने की प्रक्रिया में सार्थकता तो आती ही है, विचार शृंखला की दृष्टि से सोचने -समझने का प्रशिक्षण भी हो जाता है।

कहानी पद्धति का एक संशोधित रूप है प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में प्रयुक्त किये जाने वाला भजन शिक्षा प्रणाली का स्वरूप। भारत धर्म प्रधान देश है अतः कहानी पद्धति का प्रयोग यहाँ सफल नहीं हुआ तो यह सोचा गया कि यहाँ पर धर्म से सम्बन्धित शिक्षा ही प्रौढ़ शिक्षा के साक्षरता कार्यक्रम को सफल बना सकती है।

इस दृष्टि से भजनों का संग्रह किया गया। उन्हीं भजनों के माध्यम से प्रौढ़ों को शिक्षा देने का क्रम निर्धारित किया गया। इन्हें गीत भी कहा जाता है। सीखने के लिये ये भजन सशक्त माध्यम हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

१. **राम नाम की लूट है,**
लूटी जाय सो लूट।
अन्त काल पछतायगा,
प्राण जाएँगे छूट॥

२. **राम लक्ष्मण जानकी।**
जय बोलो हनुमान की॥

३. **राम नाम लड्डू,**
गोपाल नाम घी।
कृष्ण नाम मिश्री,
घोल घोल पी॥

ये भजन शिक्षार्थियों को याद कराये जाते रहे। इन्हें याद कराने के बाद लिखने का अभ्यास कराने के नियम का पालन किया गया। पहले दिन बर्तन को पकड़ना सिखाया

गया। बाद में सकारात्मक विधि अपनाने पर बल दिया गया।

इस प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली में प्रौढ़ की भूलों की आरे संकेत न करने का निर्देश है। भूलों को सही करके अनपढ़ व्यक्ति से यह कहा जाना चाहिए इस प्रकार लिखा जाता तो अधिक अच्छा होता।

गीत पद्धति में एक और प्रयोग भी किया गया। इस प्रकार की प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली में एक गीत का ही प्रयोग किया जाता था। गीत एकदम सरल था। सादगी इस गीत की विशेषता थी। गीत इतना बड़ा था कि पूरे श्यामपट्ट पर इसे लिखा जाता था। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ है:

कलम से लिखेंगे
कलम से पढ़ेंगे,
कलम से जियेंगे,
कलम से मरेंगे॥

यह शिक्षा प्रणाली बहुत सरल है किन्तु इसमें संयुक्ताक्षर नहीं सिखाये जाते।

राजस्थान में यह नारा भी प्रभावशाली ढंग से गूँजा– ईच वन टीच वन। अर्थात् हर पढ़ा लिखा व्यक्ति कम-से-कम एक अनपढ़ व्यक्ति को पढ़ाये। उसकी निरक्षरता दूर करे। यदि एक व्यक्ति कम-से-कम एक व्यक्ति को एक वर्ष में भी साक्षर करता तो निरक्षरता की समस्या का समाधान हो जाता किन्तु जितने जोर या तेजी से नारा गूँजा, उतनी गति से इसका क्रियान्वयन नहीं हो सका।

प्रौढ़ों को आकर्षित करने के लिए और उनकी सीखने में रुचि बनाये रखने के लिए शब्द चित्र सिद्धान्त को अपनाया। शब्द चित्र सिद्धान्त में ऐसी वस्तुओं की खोज की गई जिनका आकार उस अक्षर से मिलता-जुलता हो जिस अक्षर से उस वस्तु का नाम आरम्भ होता है। इसका मतलब यह था कि सीखने वाले के मन पर यह प्रभाव अंकित हो जाय कि यह अक्षर उसी वस्तु से निकला है।

इस प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली की प्राइमर में हर वर्ण की शिक्षा देने के लिए पृष्ठ में एक ओर वर्ण का प्रयोग करते हुए कुछ वाक्य लिखे रहते हैं। दूसरी ओर चार खाने रहते हैं। एक में उस शब्द का चित्र इस प्रकार बनाया गया है कि शब्द का आरम्भिक वर्ण लगे। दूसरे में, वर्ण को इस प्रकार बनाया गया है जिससे चित्र समझा जा सके। तीसरे में, वर्ण, चित्र सब बने हैं और चौथे में वर्ण है और ा की मात्रा है। उदाहरण के लिए आ वर्ण को लिया जा सकता है।

पहले खाने में आम का चित्र इस प्रकार बनाया जाता है कि अ मालूम दे। दूसरे में आ इस प्रकार बनाया जाता है कि आम मालूम हो। तीसरे में आ आम का चित्र और आम शब्द लिखा रहता है। चौथे में अ और ा लिखा रहता है। इसी प्रकार सभी वर्णों के सीखने का विधान है।

यह शिक्षा प्रणाली इसलिए सफल न हो सकी क्योंकि स्थानीय बोलियों में वस्तुओं के

नाम भिन्न-भिन्न थे। उदाहरण के लिए आम को कहीं आम कहा जाता है कहीं केरी कहा जाता है। कहीं रसाल। ऐसा सभी वर्णों के साथ हुआ इसलिए यह प्रणाली सफल न हो सकी।

विभिन्न प्रयोग

देश के स्वाधीन होने पर निरक्षरता का अन्धकार मिटाने के बारे में हर तरह के प्रयास किये गए। देश के भीतर जो प्रयास चल रहे थे उनके अतिरिक्ति प्रयास करने के लिये दूसरे देशों में प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में किये गए सफल प्रयोगों का अध्यन किया गया।

इस प्रकार का अध्ययन डेनमार्क में किया गया। प्रौढ़ शिक्षा का कार्य सबसे आकर्षक पाया गया क्योंकि भारतवर्ष जहाँ कृषि प्रधान देश है, वहीं डेनमार्क का प्रमुख व्यवसाय पशु पालन है। इसलिए व्यावसायिक दृष्टि से दोनों देशों में निकटता है। कृषि एवं पशु पालन का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

डेनमार्क में प्रौढ़ शिक्षा का कार्य भी रोचक रहा। एक विद्वान् ने अपने निवास पर ही कुछ शिक्षार्थियों को छः माह तक आवास की व्यवस्था की। उन्हें साक्षरता आन्दोलन की सफलता के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया। कृषि और पशु पालन के सम्बन्ध में अच्छी -से-अच्छी जानकारी दी। इसके बाद शिष्यों से छः माह तक अपने-अपने क्षेत्रों में जाकर कार्य करने के लिए कहा। इसी प्रकार यह कार्यक्रम आगे बढ़ता गया। छः माह तक प्रशिक्षण देने वाले शिक्षक शेष छः माह अपने प्रशिक्षित शिष्यों के कार्य का अवलोकन करते जाते थे और आवश्यकतानुसार उन्हें निर्देश भी देते थे। इस आन्दोलन को फोक स्कूल के नाम से जाना गया जिससे डेनमार्क में प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त किया गया।

फोक स्कूल के आन्दोलन को आदर्श मानकर अपने देश में भी अपनाया गया। यहाँ, इसी के अनुरूप २० जनता कॉलेज खोले गये, जहाँ 'ग्राम युवा नेतृत्व' के नाम से प्रशिक्षण दिया गया। अपने राजस्थान में एक जनता कॉलेज उदयपुर में राजस्थान विद्यापीठ द्वारा आरम्भ किया गया। देश-भर के १९ जनता कॉलेज चल न सके, बन्द हो गए। राजस्थान में आरम्भ होने वाले जनता कालेज आज भी प्रौढ़ शिक्षा की प्रयोगशाला के रूप में कार्यरत हैं।

इस समय उदयपुर के उबोक में चलने वाले जनता कालेज ने समय के अनुरूप अनेक कार्यक्रम अपनाये हैं। ग्राम युवा नेतृत्व के साथ-साथ औद्योगिक प्रशिक्षण के कार्यक्रम भी संचालित किये गए। ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों के चुने हुए प्रतिनिधियों एवं प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों को भी साक्षरता आन्दोलन की सफलता के लिये अल्पकालीन शिक्षण की व्यवस्था की गई।

इसी प्रकार कभडा में चलाये गए प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन का भी अध्ययन किया गया। वहाँ उपयोगी साक्षरता को महत्व दिया गया। वहाँ यह समझा गया था कि यदि साक्षरता से कोई लाभ नजर नहीं अएगा तो अनपढ़ व्यक्ति साक्षरता की ओर आकर्षित क्यों होगा,

अग्रसर क्यों होगा ? इसलिए वहाँ व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। मनोरंजन के कार्यक्रमों का प्रशिक्षण दिया गया। इन कार्यक्रमों के माध्यम से लक्ष्य प्राप्त किया गया।

कनाडा के प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों का उदाहरण लेकर अपने यहाँ इस प्रकार विद्यालय खोले गए जिनमें तरह-तरह की कलाओं का प्रशिक्षण दिया गया। इन कलाओं का प्रशिक्षण प्राप्त कर शिक्षार्थी में इतनी व्यावसायिक योग्यता हो जाती थी कि उससे इतनी आय अर्जित हो सके जिससे वह आत्म-निर्भर हो सके। आय अर्जित कर सकने वाले और बढ़ाने वाले इस प्रशिक्षण की ओर युवाओं का आकर्षण बढ़ा। आई. टी. आई. के नाम से सारे राजस्थान में ये विद्यालय खोले गए। ये सभी विद्यालय सफलता पूर्वक चल रहे हैं।

इग्लैण्ड में प्रौढ़ शिक्षा का कार्य प्रभावशाली ढंग से इसलिए सफलता की ओर अग्रसर हुआ क्योंकि इंग्लैण्ड की सरकार ने इसे गम्भीरता से लिया। प्रौढ़ शिक्षा विभाग की स्थापना कर सरकार की ओर से सशक्त कदम उठाये गए एवं स्वयं-सेवी संस्थाओं का योगदान भी इस दिशा में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

इस दृष्टि से राजस्थान में भी स्वयं सेवी संस्थाओं ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन ग्रामीण अंचलों में भी स्वयं-सेवी संस्थाओं ने साक्षरता की अलख जगाई है जो बिखरी हुई आबादी वाले हैं जहाँ यातायात का कोई साधन आज भी पहुँच नहीं पाया है। सरकार की सक्रियता के लिए पं. जनार्दन राय नागर ने अपने विधायक काल में (१९५७-१९६२) एक प्रस्ताव बिल के रूप में प्रस्तुत किया था जो समाज शिक्षा एक्ट के नाम से परित भी हुआ किन्तु दृढ़ संकल्प के अभाव में उसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका। फलतः प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में उतने प्रभावशाली कीर्तिमान अर्जित नहीं किये जा सके जितने इस एक्ट के लागू होने से किये जा सकते थे।

सोवियत रूस में प्रौढ़ शिक्षा का आन्दोलन जन-आन्दोलन के रूप में आरम्भ किया गया। भविष्य में निरक्षरता का प्रतिशत न बढ़े इसके लिये ६ वर्ष से १४ वर्ष तक के हर बालिका-बालक के लिए विद्यालय जाना अनिवार्य कर दिया गया। प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों में प्रौढ़ों को पढ़ाने के लिए हर पढ़े-लिखे व्यक्ति को समय देना अनिवार्य कर दिया गया। चाहे वह पढ़ा-लिखा व्यक्ति वकील हो, मजदूर हो, किसान हो, क्लर्क हो, अधिकारी हो, डॉक्टर हो, शिक्षक हो, विद्यार्थी हो।

राजस्थान में भी यह नियम सिद्धान्ततः स्वीकार किया गया कि हर बालक-बालिका को विद्यालय में अनिवार्य रूप से भर्ती कर दिया जाय किन्तु प्रजातन्त्र का शासन है और वोटों की खातिर इसे अनिवार्य किया नहीं गया। इसी तरह इसे जन-आन्दोलन के रूप में चलाने की आवश्यकता तो अनुभव की जाती रही लेकिन पढ़े-लिखे लोग समय देने में तत्परता से लगे नहीं। यद्यपि व्यक्तिगत रुचि लेकर प्रौढ़ शिक्षा का कार्य करने वाले व्यक्तियों के इक्का दुक्का उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अमेरिका में प्रौढ़ शिक्षा की दृष्टि से अनेक प्रकार के प्रयोग और परीक्षण किये गए। सेना में, उद्योगों में एवं व्यवसायों में लोगों को साक्षर और शिक्षित करने पर बल दिया

गया। सैनिकों को साक्षर बनाने के लिए सरकार ने महत्वपूर्ण कदम उठाये वहीं उद्योगों व व्यवसायों में लगे लोगों को शिक्षित करने के लिए उद्योगपतियों एवं व्यवसायियों ने व्यवस्था की। वहाँ की स्थानीय निकायों ने भी बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया।

राजस्थान में भी उद्योगपतियों ने इस ओर ध्यान दिया है और अपने उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों की साक्षरता के लिए समुचित प्रबन्ध किये हैं। व्यवसायों में काम करने वाले श्रमिकों की साक्षरता के लिए स्वयं-सेवी संस्थाएँ सक्रिय रही हैं। सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा का कार्य करने के लिए प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों का उपयोग करने का रास्ता अपनाया है।

जापान के लोगों की पहचान ही उनकी देश भक्ति है इसलिए प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान वहाँ के जन-जीवन में व्याप्त देश-भक्ति ने खोज लिया। भाषा के संबंध में आने वाली अड़चनों को भी इस प्रकार दूर कर लिया गया। इसी प्रकार प्रौढ़ शिक्षा के मार्ग में आने वाली परम्परागत रूढ़ियों और मान्यताओं के कारण आने वाली रुकावट भी दूर कर ली गयी। जापान के लोगों की देश-भक्ति ने ही कार्य में गति लाने वाली क्षमता व तीव्रता उत्पन्न की।

राजस्थान के लोगों में भी देश-भक्ति है। स्वाभिमान है। उनके आचरण में तेजस्विता है। फिर भी परम्परागत रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की जड़ता को भंग करने में काफी समय लगा है और लग भी रहा है। साथ ही मेवाड़ी, मारवाड़ी, बागड़ी, झड़ौली आदि की क्षेत्रीयता का भी अपना रंग है। बोलियों के कारण भी रुकावट आती रही है। राजस्थान की लोक संस्कृति के चैतन्य से प्रौढ़ शिक्षा के काम को गति मिली है। इससे लगता है अब राजस्थान पूरी तरह जागा है क्योंकि अजमेर जिला पूरी तरह साक्षर हो गया है। भरतपुर, अलवर और डूँगरपुर को पूर्ण साक्षर बनाने का दृढ़ संकल्प लिया गया है।

चीन में श्रम शिक्षण को महत्व दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में व आन्तरिक अंचलों में सामुदायिक शिक्षण केन्द्रों पर कक्षाएँ चलाने की व्यवस्था की गई। प्रौढ़ शिक्षा का काम करने वाले चीन में अनेक प्रकार के संस्थान हैं । स्वयं-सेवी संगठनों के द्वारा प्रौढ़ों को आवश्यकतानुसार निर्देश देते हुए मार्गदर्शन का कार्य किया गया।

राजस्थान में भी सामुदायिक शिक्षण का कार्यक्रम अत्यन्त सशक्त और संगठित ढंग से चलाया जा रहा है। इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। महापुरुषों के व्याख्यान होते हैं, गोष्ठियों की जाती हैं। सामुदायिक विकास के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी जाती है।

राजस्थान राष्ट्र की मुख्य धारा के साथ सम्बद्ध रहा है। यहाँ राष्ट्रीय चेतना के विकास की हमेशा साधना की गई है। इसीलिये शिक्षा के सम्बन्ध में हमेशा प्रयोग किये गए जाते रहे हैं। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग अनेक नामों से भी किये गए हैं। उदाहरण के लिए प्रौढ़ शिक्षा, समाज शिक्षा, लोक शिक्षण, जन शिक्षण, उपयोगी साक्षरता, सम्पूर्ण साक्षरता इत्यादि।

आरम्भ में प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य लोगों को साक्षर करने तक ही सीमित था किन्तु जब हमेशा यह देखा गया कि निरन्तरता के अभाव में नव साक्षर पुनः निरक्षरता की श्रेणी में आ जाते हैं तो यह अनुभव किया गया कि इसके स्वरूप में विस्तार किया जाए।

प्रौढ़ शिक्षा को जब समाज शिक्षा का नाम दिया गया तब उसके लक्ष्य को अनपढ़ व्यक्तियों को साक्षर बनाने तक ही सीमित न रखा गया बल्कि नागरिकता और सामाजिकता को भी साक्षरता के साथ शामिल कर लिया गया। अनपढ़ लोगों को शिक्षा प्रजातन्त्र के योग्य तथा सार्थक नागरिक बनाने के लिए दी जाने लगी।

लोक शिक्षण के अन्तर्गत साक्षरता शिक्षण के साथ-साथ चेतना एवं व्यावहारिकता के ज्ञान को भी सम्मिलित किया गया। अनपढ़ लोगों के व्यवसाय से सम्बन्धित नवीनतम जानकारियों से अवगत कराने का भी निश्चय किया गया। भजन मण्डलियों के आयोजनों द्वारा जहाँ जनता में अभिरुचि जगाने का प्रयास किया गया, वहीं ज्ञान-गोष्ठियों के माध्यम से समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों को दूर करने का वातावरण भी बनाया गया।

प्रौढ़ शिक्षा को सामुदायिक विकास के साथ जोड़ने का क्रम जब चला तो इसे सामुदायिक शिक्षण की भूमिका निभाना आवश्यक हो गया। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण समुदाय के सर्वांगीण तथा सार्वजनिक विकास का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए जो कार्यक्रम अपनाये गए उनमें राजनीति, नागरिकता, स्वास्थ्य व सफाई आदि की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इसके अन्तर्गत प्रौढ़ों के लिए खेल-कूद तथा मनोरंजन की सुविधाएँ भी प्रदान की गई।

जन शिक्षण के नाम से प्रौढ़ शिक्षा के स्वरूप को व्यापक बनाने का प्रयास किया गया। इसमें साक्षरता को सामान्य जीवन और कार्यों से सम्बन्धित करने की व्यवस्था की गई। १९७८ में जब भारत सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा एवं अनौपचारिक शिक्षा को राष्ट्रीय कर्त्तव्य माना तो राजस्थान में भी औपाचरिक शिक्षा योजना को लागू किया गया। उन लोगों को साक्षरता के कार्यक्रमों से सम्बद्ध किया गया जिन्होंने किसी कारणवश पाठशाला जाना पड़ा छोड़ दिया था और अनपढ़ की श्रेणी में आ गए थे।

उपयोगी साक्षरता या व्यावसायिक साक्षरता के अन्तर्गत प्रौढ़ों को उनके व्यवसाय से सम्बन्धित जानकारी देने का लक्ष्य रखा गया ताकि उनकी आय बढ़ सके जिससे अनपढ़ लोग साक्षरता की उपयोगिता समझ सकें।

१९८९ में साक्षरता मिशन स्थापित किया गया जिसके द्वारा साक्षरता के लिए सम्पूर्ण समाज को सक्रिय करने की योजना अपनायी गई अर्थात् साक्षरता कार्यक्रम में विद्यार्थी, अध्यापक, डाक्टर, वकील, इंजीनियर, मजदूर, किसान, व्यापारी सभी को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया। इसके परिणाम भी उत्साहवर्धक रहे। नव साक्षरों के लिए साक्षरता के क्रम को निरन्तर जारी रखने की दृष्टि से साक्षरता निलयम स्थापित किये गए जिनके द्वारा प्रौढ़ों की रुचि के अनुरूप साहित्य रचा जाने लगा।

सम्पूर्ण साक्षरता के नाम से इस समय राजस्थान में एक नया कार्यक्रम आरम्भ किया गया। इसमें जहाँ सम्पूर्ण क्षेत्र को साक्षर करना है वहाँ पहले सर्वेक्षण कर लिया जाता है और जो भी अनपढ़ उस क्षेत्र में होते हैं उनके अवकाश के क्षणों का उपयोग कर उन्हें साक्षर करने की प्रक्रिया अपनायी जाती है। इस प्रक्रिया में उक्त अनपढ़ व्यक्ति के पास-पड़ोसी भी जो साक्षर व शिक्षित होते हैं, सक्रिय भूमिका निभाते हैं। स्वयं-सेवी संस्थाएँ और सरकारी संस्थान तथा शिक्षित समाज मिलकर इस काम में सहयोग करते हैं। इस प्रकार जब सम्पूर्ण गाँव को साक्षर कर लिया जाता है, इसके बाद पंचायत क्षेत्र और पंचायत समिति को सम्पूर्ण साक्षर किया जाता है। तदनन्तर सम्पूर्ण जिले को साक्षर किया जाता है। अजमेर जिले को इसी प्रकार सम्पूर्ण साक्षर करने का लक्ष्य प्राप्त किया गया है। अलवर, डूँगरपुर और भरतपुर जिलों को सम्पूर्ण साक्षर करने के लिए भी यही सम्पूर्ण साक्षरता की विधि अपनायी गई है। सामान्यतः सम्पूर्ण राजस्थान में इस समय यह लहर चल रही है।

आशा ही नहीं, विश्वास है कि शीघ्र ही सम्पूर्ण राजस्थान पूर्णरूपेण शत-प्रतिशत साक्षर हो जाएगा।